भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा

परिचयात्मक पुनरावलोकन

**(Tradition of Indian Poetry:
Introductory Review)**

ऋषि प्रसाद

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा

परिचयात्मक पुनरावलोकन

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा

परिचयात्मक पुनरावलोकन

(Tradition of Indian Poetry Introductory Review)

ऋषि प्रसाद

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5566-3

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

काव्यशास्त्र काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय-समय पर उद्‌भावित सिद्धान्तों की ज्ञानराशि है। काव्यशास्त्र के लिए पुराने नाम 'साहित्यशास्त्र' तथा 'अलंकारशास्त्र' हैं और साहित्य के व्यापक रचनात्मक वांग्यमय को समेटने पर इसे 'समीक्षाशास्त्र' भी कहा जाने लगा। संस्कृत आलोचना के अनेक अभिधानों में अलंकारशास्त्र ही नितान्त लोकप्रिय अभिधान है। इसके प्राचीन नामों में 'क्रियाकलाप' (क्रिया काव्यग्रंथ, कल्प विधान) वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट 64 कलाओं में से अन्यतम है। राजशेखर द्वारा उल्लिखित 'साहित्य विद्या' नामकरण काव्य की भारतीय कल्पना के ऊपर आश्रित है, परन्तु ये नामकरण प्रसिद्ध नहीं हो सके।

काव्यकृति मूलतः तिहरे आयाम से जुड़ी है - काव्य, काव्यकर्ता (कवि), काव्यानुशीलक। जहाँ तक नाट्यरूप काव्य का सम्बन्ध है, काव्यकर्ता के साथ उसमें नाट्य प्रयोगकर्ता नटादि का भी समावेश हो जाता है। काव्यशास्त्रीय चिन्तकों का ध्यान इन सभी पक्षों की ओर सदा जाता रहा है। सबसे पहला प्रश्न जो कवि के संबंध में उठता है, वह यह है कि कवि या कलाकार अन्य मानव, धर्मोपदेशक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक विचारक से किस बात में विशिष्ट है और क्यों खास प्रकृति के व्यक्ति ही कवि या कलाकार बन पाते हैं? दूसरे शब्दों में, कवित्वशक्ति के हेतु क्या हैं। सुकरात और प्लेटो कवित्वशक्ति को दैवी आवेश की देन मानते हैं, अध्ययन और अभ्यास का प्रतिफल नहीं। भारत के

काव्यशास्त्री काव्यरचना में प्रतिभा को प्रधान हेतु मानते हुए भी इसके साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कम महत्व नहीं देते। परम्परावादी आलोचक केवल प्रतिभा को काव्यशक्ति का हेतु नहीं मानते। उधर पश्चिम के रोमांटिक विचारक कलाकृति की मूल प्रेरणा एकमात्र प्रतिभा को ही मानते हैं। फिर भी इस बात में सभी चिंतक एकमत हैं कि कवि विशिष्ट प्रतिभाशील व्यक्ति है, जो अपनी प्रतिभा के माध्यम से काव्य के रूप में नई सृष्टि की उद्‌भावना करता है।

काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष वह कृति है, जो हमारे समक्ष चाक्षुष (नाटक में), श्रावण तथा बौद्धिक सन्निकर्ष का माध्यम बनती है और इस माध्यम से वह हमारे मन या संवित् (चेतना) को प्रभावित करती है। अतः काव्यशास्त्रीय चिंतन में यह वह प्रधान पक्ष है, जिसके अनेक पहलुओं को लेकर पूर्व और पश्चिम के विचारक पिछले अढ़ाई हजार वर्षों से ऊहापोह करते आ रहे हैं। सबसे पहला सवाल जो काव्य के कथ्य के विषय में उठता है, वह यह है कि काव्य में वर्णित घटनाएँ आदि कहाँ तक वैज्ञानिक सत्य से मेल खाती हैं। यह प्रायः सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं कि काव्य में तथ्य-कथन-प्रणाली का आश्रय नहीं लिया जाता। उसमें जिस सत्य का समुद्‌घाटन होता है, वह वास्तविक सत्य न होकर संभाव्य सत्य होता है। इसी आधार पर काव्यविरोधी कवि की कल्पना को भ्रमित या सत्य से बहुत दूर घोषित करते हैं। प्लेटो ने तो इसे सत्य से 'दुहरा दूर' सिद्ध किया है।

भारत के विचारकों ने काव्यकृति को भ्रान्ति नहीं माना है, यद्यपि एक स्थान पर भट्‌ट लोल्लट ने रससूत्र की व्याख्या करते हुए नाटक के अभिनय में राम आदि का अनुकरण करते नटों में राम आदि के भ्रांतिज्ञान का संकेत किया है। पश्चिम में इधर मनोविज्ञान के विकास के परिप्रेक्ष्य में काव्यशास्त्रीय चिंतन ने भ्रांतिवाले इस पक्ष को और अधिक मजबूत किया है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**काव्यशास्त्र**	**1**
	प्राचीनता	2
	परिचय	3
	काव्य-लक्षण	11
	काव्य परिभाषा	16
2.	**भारतीय काव्य शास्त्र परंपरा**	**19**
	भारतीय काव्यशास्त्र/काव्य लक्षण	28
	भारतीय काव्यशास्त्र/काव्य हेतु	31
	पंडितराज जगन्नाथ	35
	भारतीय काव्यशास्त्र/काव्य गुण	43
	भारतीय काव्यशास्त्र/काव्य दोष	45
	भारतीय काव्यशास्त्र/शब्द शक्तियाँ	47
3.	**भारतीय काव्यशास्त्र**	**52**
	प्रमुख काव्यशास्त्री	52
4.	**भारतीय काव्यशास्त्र में रस**	**60**
	रस भेद	62
	भारतीय काव्यशास्त्र/रस के अंग	64

संचारिभाव (व्यभिचारीभाव) 66
रसों का अन्तर्भाव आदि 76
भारतीय काव्यशास्त्र में रस की अवधारणा 77
अनुसंधान विधि 80
रस का स्वरूप 87
5. भरतमुनि 91
नाट्यशास्त्र का रचनाकाल 92
नाट्यशास्त्र का स्वरूप 92
नाट्यशास्त्र के टीकाकार 92
नाट्यशास्त्र का विषय 92
मयंक चतुर्वेदी 96
6. भारतीय काव्यशास्त्र 98
परशुराम राय 98
7. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास 102
(क) काव्यशास्त्रीय वैदिक परम्परा 103
प्राचीन युग 106
मध्य युग 109
मुकुलभट्ट 109
वाग्भट 113
विद्याधर 115
विद्यानाथ 115
विश्वनाथ 115
आधुनिक युग 117
आचार्य हरिप्रसाद 118
चिरंजीव भट्टाचार्य 118
भट्टदेवशंकर पुरोहित 118
आचार्य नरसिंह कवि 119
आशाधर भट्ट 119
उत्तरार्ध परम्परा 121
स्वामी करपात्री 121

8. दंडी **127**
जन्म विवाद 127
9. वामनावतार **129**
उत्पत्ति 129
प्रतीकात्मकता 130
10. जगन्नाथ पण्डितराज **132**
जीवनी 132
किंवदंतियां 133
साहित्यिक अवदान 134

1

काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्र काव्य और साहित्य का दर्शन तथा विज्ञान है। यह काव्यकृतियों के विश्लेषण के आधार पर समय-समय पर उद्‌भावित सिद्धान्तों की ज्ञानराशि है। काव्यशास्त्र के लिए पुराने नाम 'साहित्यशास्त्र' तथा 'अलंकारशास्त्र' हैं और साहित्य के व्यापक रचनात्मक वांग्मय को समेटने पर इसे 'समीक्षाशास्त्र' भी कहा जाने लगा। संस्कृत आलोचना के अनेक अभिधानों में अलंकारशास्त्र ही नितान्त लोकप्रिय अभिधान है। इसके प्राचीन नामों में 'क्रियाकलाप' (क्रिया काव्यग्रंथय कल्प विधान) वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट 64 कलाओं में से अन्यतम है। राजशेखर द्वारा उल्लिखित 'साहित्य विद्या' नामकरण काव्य की भारतीय कल्पना के ऊपर आश्रित है, परन्तु ये नामकरण प्रसिद्ध नहीं हो सके।

युगानुरूप परिस्थितियों के अनुसार काव्य और साहित्य का कथ्य और शिल्प बदलता रहता है, फलतः काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। भारत में भरत के सिद्धान्तों से लेकर आज तक और पश्चिम में सुकरात और उसके शिष्य प्लेटो से लेकर अद्यतन 'नवआलोचना' (नियो-क्रिटिसिज्म) तक के सिद्धांतों के ऐतिहासिक अनुशीलन से यह बात साफ हो जाती है। भारत में काव्य नाटकादि कृतियों को 'लक्ष्य ग्रंथ' तथा सैद्धांतिक ग्रंथों को 'लक्षण ग्रंथ' कहा जाता है। ये लक्षण ग्रंथ सदा लक्ष्य ग्रंथ के पश्चाद्‌भावनी तथा अनुगामी है और महान् कवि इनकी लीक को चुनौती देते देखे जाते हैं।

मूलत: काव्यशास्त्रीय चिंतन 'शब्दकाव्य' (महाकाव्य एवं मुक्तक) तथा दृश्यकाव्य (नाटक) के ही सम्बन्ध में सिद्धान्त स्थिर करता देखा जाता है। अरस्तू के 'पोयटिक्स' में कामेडी, ट्रैजेडी, तथा एपिक की समीक्षात्मक कसौटी का आकलन है और भरत का नाट्यशास्त्र केवल रूपक या दृश्यकाव्य की ही समीक्षा के सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। भारत और पश्चिम में यह चिन्तन ई.पू. तीसरी चौथी शती से ही प्रौढ़ रूप में मिलने लगता है, जो इस बात का परिचायक है कि काव्य के विषय में विचार-विमर्श कई सदियों पहले ही शुरू हो चुका था।

'अलंकारशास्त्र' में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक तथा संकीर्ण दोनों अर्थों में समझना चाहिए। अलंकार के दो अर्थ मान्य हैं -

(1) अलंक्रियते अनेन इति अलंकार: ('काव्य में शोभा के आधायक उपमा, रूपक आदि, संकीर्ण अर्थ)य

(2) अलंक्रियते इति अलंकार: ('काव्य की शोभा', व्यापक अर्थ)।

व्यापक अर्थ स्वीकार करने पर अलंकारशास्त्र काव्यशोभा के आधा एक समस्त तत्त्वों - गुण, रीति, रस, वृत्ति ध्वनि आदि--का विजा एक शास्त्र है, जिसमें इन तत्त्वों के स्वरूप तथा महत्व का रुचिर विवरण प्रस्तुत किया गया है। संकीर्ण अर्थ में ग्रहण करने पर यह नाम अपने ऐतिहासिक महत्व को अभिव्यक्त करता है।

साहित्यशास्त्र के आरम्भिक युग में 'अलंकार' (उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि) ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था, जिसके अभाव में काव्य उष्णताहीन अग्नि के समान निष्प्राण और निर्जीव होता है। 'अलंकार' के गंभीर विश्लेषण से एक ओर 'वक्रोक्ति' का तत्त्व उद्‌भूत हुआ और दूसरी ओर अर्थ की समीक्षा करने पर 'ध्वनि' के सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत मिला। इसलिए रस, ध्वनि, गुण आदि काव्यतत्त्वों का प्रतिपादक होने पर भी, अलंकार प्राधान्य दृष्टि के कारण ही, आलोचनाशास्त्र का नाम 'अलंकारशास्त्र' पड़ा और वह लोकप्रिय भी हुआ।

प्राचीनता

अलंकारों की, विशेषत: उपमा, रूपक, स्वाभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति की, उपलब्धि ऋग्वेद के मंत्रों में निश्चित रूप से होती है, परन्तु वैदिक युग में इस शास्त्र के आविर्भाव का प्रमाण नहीं मिलता। निरुक्त के अनुशीलन से 'उपमा' का साहित्यिक विश्लेषण यास्क से पूर्ववर्ती युग की आलोचना की

परिणत फल प्रतीत होता है। यास्क ने किसी प्राचीन आचार्य के उपमालक्षण का निर्देश ही नहीं किया है, प्रत्युत कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, अर्थोपमा (लुप्तोपमा) जैसे मौलिक उपमा-प्रकारों का भी दृष्टांतपुररूसर वर्णन किया है (निरुक्त 3। 13-18)। इससे स्पष्ट है कि अलंकार का उदय यास्क (सप्तम शती ई.पू.) से भी पूर्व हो चुका था। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नंदिस्वामी के नाम तरुणवाचस्पति ने आद्य आलंकारिकों में अवश्य लिए हैं, परंतु इनके ग्रंथ और मत का परिचय नहीं मिलता। राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमांसा' में निर्दिष्ट बृहस्पति, उपमन्यु, सुवर्णनाभ, प्रचेतायन, शेष, पुलस्त्य, पाराशर, उतथ्य आदि अष्टादश आचार्यों में से केवल भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही आजकल उपलब्ध है। अन्य आचार्य केवल काल्पनिक सत्ता धारण करते हैं। इतना तो निश्चित है कि यूनानी आलोचना के उदय शताब्दियों पूर्व 'अलंकारशास्त्र' प्रामाणिक शास्त्रपद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था।

परिचय

काव्यकृति मूलत: तिहरे आयाम से जुड़ी है - काव्य, काव्यकर्ता (कवि), काव्यानुशीलक। जहाँ तक नाट्यरूप काव्य का सम्बन्ध है, काव्यकर्ता के साथ उसमें नाट्य प्रयोगकर्ता नटादि का भी समावेश हो जाता है। काव्यशास्त्रीय चिन्तकों का ध्यान इन सभी पक्षों की ओर सदा जाता रहा है। सबसे पहला प्रश्न जो कवि के संबंध में उठता है, वह यह है कि कवि या कलाकार अन्य मानव, धर्मोपदेशक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक विचारक से किस बात में विशिष्ट है और क्यों खास प्रकृति के व्यक्ति ही कवि या कलाकार बन पाते हैं? दूसरे शब्दों में, कवित्वशक्ति के हेतु क्या है। सुकरात और प्लेटो कवित्वशक्ति को दैवी आवेश की देन मानते हैं, अध्ययन और अभ्यास का प्रतिफल नहीं। भारत के काव्यशास्त्री काव्यरचना में प्रतिभा को प्रधान हेतु मानते हुए भी इसके साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कम महत्व नहीं देते। परम्परावादी आलोचक केवल प्रतिभा को काव्यशक्ति का हेतु नहीं मानते। उधर पश्चिम के रोमैंटिक विचारक कलाकृति की मूल प्रेरणा एकमात्र प्रतिभा को ही मानते हैं। फिर भी इस बात में सभी चिंतक एकमत हैं कि कवि विशिष्ट प्रतिभाशील व्यक्ति है, जो अपनी प्रतिभा के माध्यम से काव्य के रूप में नई सृष्टि की उद्भावना करता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, कविता का प्रयोजन क्या है? अखिर कवि कविता क्यों करता है? इस सम्बन्ध में चिंतकों के दो दल हैं- परंपरावादी चिंतक

काव्य का लक्ष्य या प्रयोजन नैतिक उपदेश की प्रतिष्ठा मानते हैं। काव्य द्वारा कवि किन्ही मूल्यों की स्थापना करना चाहता है, ठीक उसी तरह जैसे धार्मिक उपदेशक। किन्तु फर्क यह है कि उसकी कृति शैलीशिल्प की दृष्टि से रमणीय और रसमय होने के कारण धर्मग्रंथों या नीतिग्रंथों से विशिष्ट बन जाती है। स्वच्छंदतावादी चिंतक इसे नहीं स्वीकारता। वह कवि को उपदेशक नहीं मानता। उसके अनुसार कवि सर्जक है, सृष्टिकर्ता है, जो ब्रह्मा से भी विशिष्ट है। वह अपनी सृष्टि, अपनी कलाकृति के माध्यम से हमारे सामने रखता है। वस्तुत: वह अपनी अनुभूतियों को काव्य के द्वारा वाणी देना चाहता है। काव्य और कुछ नहीं, उसकी समस्त अनुभूतियों का सारभत तत्त्व और उसके अंतस् में उमड़ते-घुमड़ते भावों का स्वत: बहा हुआ परिवाह मात्र है। पूर्व और पश्चिम के प्राय: सभी मतमतांतर इन दो खेवों में मजे से समेटे जा सकते हैं।

काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष वह कृति है, जो हमारे समक्ष चाक्षुष (नाटक में), श्रावण तथा बौद्धिक सन्निकर्ष का माध्यम बनती है और इस माध्यम से वह हमारे मन या संवित् (चेतना) को प्रभावित करती है। अत: काव्यशास्त्रीय चिंतन में यह वह प्रधान पक्ष है, जिसके अनेक पहलुओं को लेकर पूर्व और पश्चिम के विचारक पिछले अढ़ाई हजार वर्षो से ऊहापोह करते आ रहे हैं। सबसे पहला सवाल जो काव्य के कथ्य के विषय में उठता है, वह यह है कि काव्य में वर्णित घटनाएँ आदि कहाँ तक वैज्ञानिक सत्य से मेल खाती हैं। यह प्राय: सभी समीक्षक स्वीकार करते हैं कि काव्य में तथ्य-कथन-प्रणाली का आश्रय नहीं लिया जाता। उसमें जिस सत्य का समुद्घाटन होता है, वह वास्तविक सत्य न होकर संभाव्य सत्य होता है। इसी आधार पर काव्यविरोधी कवि की कल्पना को भ्रमित या सत्य से बहुत दूर घोषित करते हैं। प्लेटो ने तो इसे सत्य से 'दुहरा दूर' सिद्ध किया है। भारत के विचारकों ने काव्यकृति को भ्रान्ति नहीं माना है, यद्यपि एक स्थान पर भट्ट लोल्लट ने रससूत्र की व्याख्या करते हुए नाटक के अभिनय में राम आदि का अनुकरण करते नटों में राम आदि के भ्रांतिज्ञान का संकेत किया है। पश्चिम में इधर मनोविज्ञान के विकास के परिप्रेक्ष्य में काव्यशास्त्रीय चिंतन ने भ्रांतिवाले इस पक्ष को और अधिक मजबूत किया है। कहा जाता है, कला मात्र भ्रांति है (आर्ट इज नथिंग बट इल्यूजन)। इसी से मिलता-जुलता एक और मत भी है। कला कुछ नहीं महज सम्मोहन है (आर्ट इज नथिंग बट हेल्यूसिनेशन)। इधर नृतत्त्व विज्ञान के अध्ययन के आधार पर भी काव्य की सम्मोहिनी शक्ति पर जोर दिया जाने लगा है और यह मत

प्रबल हो उठा है कि काव्य या कला में पुराने आदिम समाज के ओझाओं के मंत्रों की तरह जादुई असर होता है (आर्ट इज मैजिक)।

यहीं यह सवाल उठता है कि आखिर यह भ्रान्ति, सम्मोहन या जादुई असर, अगर हम पुराने विद्वानों के शब्द को उधार लेना चाहें तो काव्य का 'चमत्कार', किन तत्त्वों के कारण पैदा होता है? काव्य मूलतः भाषा में निबद्ध होता है। भाषा शब्द और अर्थ का संश्लिष्ट रूप है। अतः पहला सवाल यह उठेगा कि काव्य केवल शब्दमय है या शब्दार्थमय। भारत में ये दोनों मत प्रचलित हैं। भामह, कुन्तक, मम्मट जैसे चिंतक शब्द और अर्थ के सम्मिलित तत्त्व को काव्य मानते हैं, केवल शब्द को या केवल अर्थ को नहीं, क्योंकि काव्य में दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इस मत के अनुसार काव्य को चमत्कारशाली या सम्मोहक बनाने के लिए शब्द और अर्थ दोनों की रमणीयता पर कवि को समान बल देना होगा। दूसरा मत काव्य की प्रभावान्विति में शब्द पर, अर्थात उसके बौद्धिक पक्ष की अपेक्षा श्रवण पक्ष पर, अधिक जोर देता है। प्रसिद्ध संस्कृत कवि पंडितराज जगन्नाथ का यही मत है। यह मत उन लोगों का जान पड़ता है, जो काव्य की लय (रिद्म), शब्दचयन, छन्द और श्रावण बिंबवत्ता पर अधिक जोर देते हैं। पश्चिम के स्वच्छंदतावादी समीक्षक, विशेषतः फ्रांस के प्रतीकवादी कवि और आलोचक, साफ कहते हैं कि काव्य अर्थ या विचार से नहीं बनता, बल्कि शब्दों से बनता है (पोयट्री इज नाट मेड ऑव आइडियाज बट ऑव वर्ड्स)। अगर इस मत की तुलना हम ओझाओं के निरर्थक शाबरजाल मंत्रों से करें तो पता चलेगा कि यहाँ भी अर्थ का कोई महत्व नहीं, अपितु शब्दों की लय, झाड़ फूँक करनेवाले ओझा के मंत्रोच्चार का लहजा ही रोगी को प्रभावित कर मनश्चिकित्सा करता कहा जाता है। यही पद्धति मनोविश्लेषणात्मक उपचार की भी है।

काव्य के प्रभाव को पैदा करने में शब्द और अर्थ का विशेष महत्व माना गया है, इसलिए काव्यशास्त्रीय चिंतन में शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करना लाजमी हो जाता है। शब्द का अपने परम्परागत अर्थ से नियत सम्बन्ध होता है। इस संबंध को हमारे यहाँ अभिधा व्यापार कहा गया हैं। किन्तु भाषा में इस व्यापार के अतिरिक्त अन्य व्यापार भी कार्य करता देखा जाता है, जहाँ शब्द अपने नियत अर्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति भी करा सकता है, जिसे लक्षणा व्यापार कहते हैं। अरस्तू ने भी भाषा के इन दोनों व्यापारों का विवेचन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रिटोरिक्स' में किया है।

काव्यभाषा में वस्तुतः शब्द अभिधापरक न होकर लाक्षणिक होते हैं। इस बात पर इधर पश्चिम में अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा है और इसकी शुरूआत स्वच्छन्दतावादी कवि और विचारक कॉलरिज ने की थी। उसके अनुसार समस्त काव्यभाषा लाक्षणिक (मेटाफरिक) है। यह मत आई.ए.रिचर्ड्स, एम्पसन आदि अन्य आधुनिक काव्यचिंतकों ने भी स्वीकार किया है। इस मत के अनुसार काव्य में उपात्त बिंब, रूपक, प्रतीक और मिथक सभी भाषा की लाक्षाणिक प्रक्रियाएँ हैं और इतना ही नहीं, काव्य का छंदोविधान, लय और शब्दशय्या का प्रयोजन भी सर्वथा लाक्षणिक है। इस मत से मिलता-जुलता मत हमारे यहाँ ध्वनिवादी काव्यशास्त्री का है, जो काव्यार्थप्रतीति में लक्षणा से भी एक कदम आगे बढ़कर व्यंजना की परिकल्पना करते हैं और काव्य के समस्त अवयवों को अनुभूति या रसरूप व्यंग्य का व्यंजक मानते हैं। उधर वक्रोक्तिवादी कुन्तक भी काव्य में उपात्त शब्द और अर्थ के व्यापार को साधारण अभिधान मानकर विचित्राभिधा या वक्रोक्ति कहते हैं और इस वक्रोक्ति का विनियोग वर्ण, पद, वाक्य, अर्थप्रकरण, प्रबंध जैसे काव्यांगों में निर्दिष्ट करते हैं। कुंतक के इस विभाजन की मूल नीव वस्तुतः वामन के रीतिवादी सिद्धांत पर टिकी है। यह काव्य की संघटना या संरचना का विश्लेषण कर उसके उन अंगों के सम्मोहक तत्त्व को समुद्घाटित करती है, जो काव्य सुनने या पढ़ने वाले को प्रभावित करते हैं। यह विश्लेषण एक ओर व्याकरण और भाषाशास्त्र से और दूसरी और कलाशास्त्रीय चिंतन से जुड़ा हुआ है। इधर अमेरिका में जो संरचनावादी पद्धति की नई काव्यसमीक्षा चल पड़ी है, वह उसी दृष्टिकोण को लेकर चली, जिसका सूत्रपात संस्कृत काव्यों के विवेचन के संबंध में हमारे यहाँ अपने-अपने ढंग से वामन, आनन्दवर्धन और कुन्तक कर चुके हैं।

निबन्ध की सीमा देखते हुए यहाँ काव्य के विभिन्न अंगों पर समय-समय पर हुए सभी विचारों का विवेचन करना संभव नहीं है। काव्य के मूलतः दो पक्ष हैं। एक है कथ्यपक्ष, जिसे हम विषय-वस्तु के विशेष प्रकार के अभिधान में और उससे अभिव्यक्त कलात्मक अनुभूति या रसादि की आंतरिक संवेदना में पाते हैं। दूसरा है काव्य का शैलीपक्ष, जिसमें लय, छन्द, शब्दचयन, गुण और अलंकार की योजना का विवेचन होता है। इन तत्त्वों पर पूर्व और पश्चिम के विचारकों ने विस्तार से चिंतन किया है। किन्तु यहाँ इतना समझा लेना होगा कि काव्य की प्रभावान्विति समग्र होती है। ये सभी अवयव अपने-अपने ढंग से उस समग्र प्रभावान्विति में योगदान करते देखे जाते हैं। हमारे यहाँ अलंकारवादी और

रीतिवादी समीक्षक इस समग्र प्रभावान्विति वाले मत को नहीं मानते। वे काव्य का सौंदर्य या चमत्कार शब्द अर्थ के अलंकार में या विशिष्ट पद रचना में मानते हैं। किंतु वक्रोक्तिवादी और ध्वनिवादी प्रभाव की दृष्टि से काव्य की समग्रता को लेकर चलते हैं, भले ही विश्लेषण की दृष्टि से वे भी उसके तत्तत् अंश की मीमांसा करते हों। पश्चिम में परंपरावादी समीक्षक इसी तरह काव्य की समग्रता को प्रभाव की दृष्टि से नहीं आँकते और काव्य में अलंकार (फिगर्स), उक्तिवैचित्र्य (विट्), दूरारूढ़ कल्पना (फैंसी) को महत्व देते देखे जाते हैं। वहाँ भी ईसा की दूसरी शती में एक ऐसा चिंतक हुआ है, जिसने काव्य की इस समग्रता के सिद्धांत को प्रतिष्ठापित किया था। लोंगिनुस के उदात्त संबंधी सिद्धांत का मूल भाव यही है। पश्चिम के रोमैंटिक कवि और आलोचक भी काव्य का चमत्कार समग्रता में ही मानते हैं और कुछ ऐसी ही धारणा हिंदी के छायावादी और छायावादोत्तर आलोचकों की है। हमारे यहाँ अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, औचित्य, चमत्कार जैसे विविध काव्यसिद्धांत जो चल पड़े थे, वे सब मूलतः काव्य का सौंदर्य किस अंश में है, इसी आधार पर हैं। इनका विशेष विवेचन यहाँ अनावश्यक होगा।

कवि और काव्य के बाद तीसरा तत्त्व काव्य का श्रोता या पाठक और नाटक का दर्शक है, जिसे ध्वनिवादी के शब्दों में सहृदय कहा जाता है। सहृदय का अर्थ है समान हृदयवाला वह व्यक्ति जो काव्यानुशीलन के समय उसमें तन्मयीभूत होकर कवि के समान हृदयवाला बन जाए। उसकी यह समानहृदयता काव्य में वर्णित विशिष्ट पात्रादि या नायकादि से भी होती है। इस समानहृदयता को स्थापित करने के लिए भट्ट नायक ने साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की थी, जिसे अभिनवगुप्त ने भी मान लिया है। भारत के इन रसवादियों के अनुसार काव्यानुशीलक के मानस में राग द्वेषादि रूप रज और तम गुणों का तिरोभाव हो जाता है तथा सत्य के उद्रेक से मन को विश्रांति का अनुभव होता है। अभिनवगुप्त इस स्थिति को योगियों की समाधिस्थिति के समान मानते हैं। पश्चिम में काव्य की आत्मा को रस जैसे तत्त्व के रूप में माननेवाला कोई सिद्धान्त उदित नहीं हुआ है, किन्तु वहाँ 19वीं सदी में स्वच्छन्दतावाद के उदय के कारण यह सिद्धान्त विकसित हुआ है कि काव्य का श्रोता या पाठक कवि या कविवर्णित पात्र के साथ समानुभूति (एम्पैथी) या सहानुभूति (सिम्पैथी) का अनुभव करता है, जैसी हमें शेक्सपियर के हैमलेट या मैकबेथ के साथ तथा शैली के प्रॉमिथ्युस के साथ होती है।

अपने यहाँ, रसदशा तक हम कैसे पहुँचते हैं, इसका अपने ढंग से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अभिनवगुप्त के यहाँ मिलता है, पर वह ढाँचा मात्र है। अभी हाल में हुए मनोविज्ञानगत शोधों के कारण इस पक्ष पर अधिक प्रकाश पड़ा है। मनोविज्ञान की एक विशेष शाखा, जिसमें शरीरक्रिया के आधार पर हमारे स्नायुकेंद्र के समुत्तेजन का अध्ययन किया जाता है और श्रावण, चाक्षुष, स्पार्शन, घ्राणज तथा रसनज बिंबों का अथवा उनकी कल्पना मात्र का हमारे मस्तिष्क पर कैसे प्रभाव पड़ता है और उससे हमारा मानस कैसे आंदोलित होता है, इस पर खोजें हुई हैं और होती जा रही हैं, जो काव्य और कलाकृति का काव्यनुशीलक पर कैसा, क्यों और कैसे प्रभाव पड़ता है, इसके विवेचन में व्यस्त हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि आज काव्यशास्त्रीय चिंतन का क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है। वह एक ओर व्याकरण, भाषाशास्त्र, कलाशास्त्र, दर्शन और छन्दशास्त्र के छोरों को छूता है तो दूसरी ओर मनोविज्ञान और शरीरक्रिया विज्ञान से भी जा जुड़ा है। इतना ही नहीं, जब हम काव्य के ऐतिहासिक, सामाजिक प्रेरणास्रोतों की ओर भी ध्यान देने लगते हैं तो काव्यशास्त्र का दायरा और बढ़ जाता है और वह समाजशास्त्र, इतिहास तथा राजनीतिक चिंतन से भी जा जुड़ता है। यही कारण है कि आज के काव्यशास्त्रीय चिन्तन में कई दृष्टिभंगिमाएँ मिलेंगी। कुछ ऐसी हैं, जो परंपरावादी पूर्वी या पश्चिमी साँचे में ढली हैं, कुछ पश्चिम के स्वच्छंदतावादी, कलावादी, दादावादी, भविष्यवादी या अस्तित्त्ववादी सिद्धांतों से जुड़ी हैं और कुछ या तो फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद अथवा मार्क्स के सामाजिक यथार्थवादी दर्शन से सम्बद्ध हैं।

काव्य-सम्प्रदाय

'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने काव्यशास्त्र के अनेक सम्प्रदायों की विशिष्टता की सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है। काव्य के विभिन्न अंगों पर महत्व तथा बल देने से विभिन्न संप्रदायों की विभिन्न शताब्दियों में उत्पत्ति हुई। मुख्य सम्प्रदायों की संख्या छह मानी जा सकती है-

(1) रस सम्प्रदाय,
(2) अलंकार सम्प्रदाय,
(3) रीति या गुण सम्प्रदाय,
(4) वक्रोक्ति सम्प्रदाय,

(5) ध्वनि सम्प्रदाय,

(6) औचित्य सम्प्रदाय।

इन सम्प्रदायों ने अपने नाम के अनुसार तत्तत् (वे वे गुण) 'काव्य की आत्मा' अर्थात् मुख्य प्राण स्वीकार किया है।

(1) रस संप्रदाय के के मुख्य आचार्य भरत मुनि हैं (द्वितीय शताब्दी) जिन्होंने नाट्यरस का ही मुख्यत: विश्लेषण किया और उस विवरण को अवान्तर आचार्यों ने काव्यरस के लिए भी प्रामाणिक माना।

(2) अलंकार संप्रदाय के प्रमुख आचार्य भामह (छठी शताब्दी का पूर्वार्ध), दंडी (सातवीं शताब्दी), उद्भट (आठवीं शताब्दी) तथा रुद्रट (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) हैं। इस मत में अलंकार ही काव्य की आत्मा माना जाता है। इस शास्त्र के इतिहास में यही संप्रदाय प्राचीनतम तथा व्यापक प्रभावपूर्ण अंगीकृत किया जाता है।

(3) रीति संप्रदाय के प्रमुख आचार्य वामन (अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध) हैं, जिन्होंने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' में रीति को स्पष्ट शब्दों में काव्य की आत्मा माना है (रीतिरात्मा काव्यस्य)। दण्डी ने भी रीति के उभय प्रकार--वैदर्भी तथा गौड़ी--की अपने 'काव्यादर्श' में बड़ी मार्मिक समीक्षा की थी, परन्तु उनकी दृष्टि में काव्य में अलंकार की ही प्रमुखता रहती है।

(4) वक्रोक्ति संप्रदाय की उद्भावना का श्रेय आचार्य कुन्तक को (10वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) है, जिन्होंने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा (जीवित) स्वीकार किया है।

(5) ध्वनि संप्रदाय का प्रवर्तन आनन्दवर्धन (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध) ने अपने युगान्तरकारी ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में किया तथा इसका प्रतिष्ठापन अभिनव गुप्त (10वीं शताब्दी) ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका में किया। मम्मट (11वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), रुय्यक (12वीं शताब्दी का पूर्वार्ध), हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), पीयूषवर्ष जयदेव (13वीं शताब्दी का उत्तरार्ध), विश्वनाथ कविराज (14वीं शताब्दी का पूर्वार्ध), पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी का मध्यकाल)--इसी संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य हैं।

(6) औचित्य संप्रदाय के प्रतिष्ठाता क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी का मध्यकाल) ने भरत, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन आचार्यों के मत को ग्रहण कर काव्य में

औचित्य तत्त्व को प्रमुख तत्त्व अंगीकार किया तथा इसे स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। अलंकारशास्त्र इस प्रकार लगभग दो सहस्र वर्षों से काव्यतत्त्वों की समीक्षा करता आ रहा है।

महत्व

यह शास्त्र अत्यन्त प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा और काव्य की रचना में आलोचकों तथा कवियों का मार्गनिर्देश करता आया है। यह काव्य के अंतरंग और बहिरंग दोनों का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत करता है। समीक्षासंसार के लिए अलंकारशास्त्र की काव्यतत्त्वों की चार अत्यंत महत्वपूर्ण देन है, जिनका सर्वांग विवेचन, अंतरंग परीक्षण तथा व्यावहारिक उपयोग भारतीय साहित्यिक मनीषियों ने बड़ी सूक्ष्मता से अनेक ग्रंथों में प्रतिपादित किया है। ये महनीय काव्य तत्त्व हैं--औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस।

औचित्य का तत्त्व लोक व्यवहार में और काव्यकला में नितांत व्यापक सिद्धांत है। औचित्य के आधार पर ही रसमीमांसा का प्रासाद खड़ा होता है। आनन्दवर्धन की यह उक्ति समीक्षाजगत् में मौलिक तथ्य का उपन्यास करती है कि अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं है और औचित्य का उपनिबंधन रस का रहस्यभूत उपनिषत् है-

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम।
औचित्योपनिधबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा (ध्वन्यालोक)।

वक्रोक्ति लोकातिक्रांत गोचर वचन के विन्यास की साहित्यिक संज्ञा है। वक्रोक्ति के माहात्म्य से ही कोई भी उक्ति काव्य की रसपेशल सूक्ति के रूप में परिणत होती है। यूरोप में क्रोचे द्वारा निर्दिष्ट 'अभिव्यंजनावाद' (एक्सप्रेशनिज्म) वक्रोक्ति को बहुत कुछ स्पर्श करनेवाला काव्यतत्त्व है।

ध्वनि का तत्त्व संस्कृत आलोचना की तीसरी महती देन है। हमारे आलोचकों का कहना है कि काव्य उतना ही नहीं प्रकट करता, जितना हमारे कानों को प्रतीत होता है, प्रत्युत वह नितांत गूढ़ अर्थों को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। यह सुंदर मनोरम अर्थ 'व्यंजना' नामक एक विशिष्ट शब्दव्यापार के द्वारा प्रकट होता है और इस प्रकार व्यंजक शब्दार्थ को ध्वनिकाव्य के नाम से पुकारते हैं। सौभाग्य की बात है कि अंग्रेजी के मान्य आलोचक एबरक्रांबी तथा रिचर्ड्स की दृष्टि इस तत्त्व की ओर अभी-अभी आकृष्ट हुई है।

रसतत्त्व की मीमांसा भारतीय आलोचकों के मनोवैज्ञानिक समीक्षापद्धति के अनुशीलन का मनोरम फल है। काव्य अलौकिक आनंद के उन्मीलन में ही चरितार्थ होता है चाहे वह काव्य श्रव्य हो या दृश्य। हृदयपक्ष ही काव्य का कलापक्ष की अपेक्षा नितांत मधुरतर तथा शोभन पक्ष है, इस तथ्य पर भारतीय आलोचना का नितांत आग्रह है। भारतीय आलोचना जीवन की समस्या को सुलझाने वाले दर्शन की छानबीन से कथमपि परांमुख नहीं होती और इस प्रकार यह पाश्चात्य जगत् के तीन शास्त्रों-- 'पोएटिक्स', 'रेटारिक्स' तथा 'ऐस्थेटिक्स'- का प्रतिनिधित्व अकेले ही अपने आप करती है। प्राचीनता, गंभीरता तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में यह पश्चिमी आलोचना से कहीं अधिक महत्वशाली है, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते।

काव्य-लक्षण

काव्य, मनुष्य-चेतना की महत्तम सृष्टि है। काव्यशास्त्र में काव्य का विश्लेषण किया जाता है। काव्य का लक्षण निर्धारित करना ही काव्यशास्त्र का प्रयोजन है। लक्षण का अर्थ है, 'असाधारण अर्थ'। वस्तुतः कोई कृति साहित्यिक कृति है या नहीं, यह जानना आवश्यक है और इसी के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि साहित्यिक दृष्टिकोण क्या है या साहित्य (काव्य) क्या है, उसकी परिभाषा क्या है। दूसरे शब्दों में, काव्य का वह असाधारण धर्म क्या है, जिसमें काव्य, 'काव्य' कहलाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में 'परिभाषा' को 'लक्षण' शब्द से अभिहित किया गया है। परिभाषा (लक्षण) के तीन दोष कहे जाते हैं- अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। काव्य एवं काव्यांगों की परिभाषा करते समय सभी आचार्यों ने बड़े सजग होकर यह प्रयास किया है कि उनके द्वारा प्रतिपादित लक्षण अथवा सिद्धान्त निर्दोष हों। कुछ प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'लक्षण' निम्नलिखित हैं-

शब्दार्था सहितौ काव्यम् (शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य है।) (भामह),

संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना, पदावली काव्यम् (अग्नि पुराण),

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (दंडी),

ननु शब्दार्थौ कायम् (रुद्रट),

काव्य शब्दोयं गुणलंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते (आचार्य वामन),

शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् (आनन्दवर्धन),
निर्दोषं गुणवत् काव्यं अलंकारैरलंकृतं रसान्तितम् (भोजराज),
तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (मम्मट),
गुणालंकाररीतिरससहितौ दोषरहिती शब्दार्थौ काव्यम् (वाग्भट),
निर्दोषा लक्षणवी सरीतिर्गुणभूषिता, सालंकाररसानेकवृत्तिर्भाक् काव्यशब्दभाक् (जयदेव),
काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत् (आचार्य शौद्धोदनि),
वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (विश्वनाथ),
गुणवदलंकृतंच काव्यम् (राजशेखर)।

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ

नाट्यशास्त्र–भरतमुनि,
काव्यप्रकाश–मम्मट।

टीकाएँ

अलंकारसर्वस्व–रुय्यक,
संकेत टीका–माणिक्यचंद्र सूरि (रचनाकाल 1160 ई.),
दीपिका–चंडीदास (13वीं शती),
काव्यप्रदीप–गोविंद ठक्कुर (14वीं शती का अंतभाग),
सुधासागर या सुबोधिनी–भीमसेन दीक्षित (रचनाकाल 1723 ई.),
दीपिका–जयंतभट्ट (रचनाकाल 1294 ई.),
काव्यप्रकाशदर्पण–विश्वनाथ कविराज (14वीं शती),
विस्तारिका–परमानंद चक्रवर्ती (14वीं शती),
साहित्यदर्पण–विश्वनाथ,
काव्यादर्श–दण्डी,
काव्यमीमांसा–कविराज राजशेखर (880-920 ई.),
दशरूपकम्–धनंजय,
अवलोक–धनिक (धनंजय के लघु भ्राता),
ध्वन्यालोक–आनन्दवर्धन,
लोचन–अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक की टीका),
काव्यप्रकाशसंकेत–माणिक्यचंद्र (1159 ई),
अलंकारसर्वस्व–राजानक रुय्यक,

चंद्रालोक–जयदेव,
अलंकारशेखर–केशव मिश्र।

काव्य

काव्य, कविता या पद्य, साहित्य की वह विधा है, जिसमें किसी कहानी या मनोभाव को कलात्मक रूप से किसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। भारत में कविता का इतिहास और कविता का दर्शन बहुत पुराना है। इसका प्रारंभ भरतमुनि से समझा जा सकता है। कविता का शाब्दिक अर्थ है काव्यात्मक रचना या कवि की कृति, जो छन्दों कीशृंखलाओं में विधिवत बांधी जाती है।

काव्य वह वाक्य रचना है, जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो अर्थात् वह जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। रस गंगाधर में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहा है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दलंकार) भी समझकर लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं, पर 'अर्थ' की 'रमणीयता' कई प्रकार की हो सकती है। इससे यह लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। साहित्य दर्पणाकार विश्वनाथ का लक्षण ही सबसे ठीक जँचता है। उसके अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'। रस अर्थात् मनोवेगों का सुखद संचार की काव्य की आत्मा है।

काव्यप्रकाश में काव्य तीन प्रकार के कहे गए हैं, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र। ध्वनि वह है, जिस, में शब्दों से निकले हुए अर्थ (वाच्य) की अपेक्षा छिपा हुआ अभिप्राय (व्यंग्य) प्रधान हो। गुणीभूत ब्यंग्य वह है, जिसमें गौण हो। चित्र या अलंकार वह है, जिसमें बिना ब्यंग्य के चमत्कार हो। इन तीनों को क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम भी कहते हैं। काव्यप्रकाशकार का जोर छिपे हुए भाव पर अधिक जान पड़ता है, रस के उद्रेक पर नहीं। काव्य के दो और भेद किए गए हैं, महाकाव्य और खंड काव्य। महाकाव्य सर्गबद्ध और उसका नायक कोई देवता, राजा या धीरोदात्त गुंण संपन्न क्षत्रिय होना चाहिए। उसमेंशृंगार, वीर या शांत रसों में से कोई रस प्रधान होना चाहिए। बीच-बीच में करुणाय हास्य इत्यादि और रस तथा और और लोगों के प्रसंग भी आने चाहिए। कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए। महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चंद्र, रात्रि, प्रभात, मृगया, पर्वत, वन, ऋतु, सागर, संयोग, विप्रलम्भ, मुनि, पुर, यज्ञ, रणप्रयाण, विवाह आदि का यथास्थान सन्निवेश होना चाहिए। काव्य दो प्रकार का माना गया है, दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है, जो अभिनय द्वारा दिखलाया जाय, जैसे,

नाटक, प्रहसन, आदि जो पढ़ने और सुनेन योग्य हो, वह श्रव्य है। श्रव्य काव्य दो प्रकार का होता है, गद्य और पद्य। पद्य काव्य के महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद कहे जा चुके हैं। गद्य काव्य के भी दो भेद किए गए हैं- कथा और आख्यायिका। चंपू, विरुद और कारंभक तीन प्रकार के काव्य और माने गए हैं।

परिचय

सामान्यत: संस्कृत के काव्य-साहित्य के दो भेद किये जाते हैं- दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य शब्दों के अतिरिक्त पात्रों की वेश-भूषा, भावभंगिमा, आकृति, क्रिया और अभिनय द्वारा दर्शकों के हृदय में रसोन्मेष कराता है। दृश्यकाव्य को 'रूपक' भी कहते हैं, क्योंकि उसका रसास्वादन नेत्रों से होता है। श्रव्य काव्य शब्दों द्वारा पाठकों और श्रोताओं के हृदय में रस का संचार करता है। श्रव्यकाव्य में पद्य, गद्य और चम्पू काव्यों का समावेश किया जाता है। गत्यर्थक में पद् धातु से निष्पन 'पद्य' शब्द गति की प्रधानता सूचित करता है। अत: पद्यकाव्य में ताल, लय और छन्द की व्यवस्था होती है। पुन: पद्यकाव्य के दो उपभेद किये जाते हैं-महाकाव्य और खण्डकाव्य। खण्डकाव्य को 'मुक्तकाव्य' भी कहते हैं। खण्डकाव्य में महाकाव्य के समान जीवन का सम्पूर्ण इतिवृत्त न होकर किसी एक अंश का वर्णन किया जाता है-

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। - साहित्यदर्पण, 6/321

कवित्व के साथ-साथ संगीतात्कता की प्रधानता होने से ही इनको हिन्दी में 'गीतिकाव्य' भी कहते हैं। 'गीति' का अर्थ हृदय की रागात्मक भावना को छन्दोबद्ध रूप में प्रकट करना है। गीति की आत्मा भावातिरेक है। अपनी रागात्मक अनुभूति और कल्पना के कवि वर्णय-वस्तु को भावात्मक बना देता है। गीतिकाव्य में काव्यशास्त्रीय रूढ़ियों और परम्पराओं से मुक्त होकर वैयक्तिक अनुभव को सरलता से अभिव्यक्त किया जाता है। स्वरूपत: गीतिकाव्य का आकार-प्रकार महाकाव्य से छोटा होता है। इन सब तत्त्वों के सहयोग से संस्कृत मुक्तककाव्य को एक उत्कृष्ट काव्यरूप माना जाता है। मुक्तकाव्य महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए हैं।

संस्कृत में गीतिकाव्य मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में प्राप्त होता है। प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मेघदूत है। अधिकांश प्रबन्ध गीतिकाव्य इसी के अनुकरण पर लिखे गये हैं। मुक्तक वह है, जिसमें प्रत्येक पद्य अपने आप में स्वतंत्र होता है। इसके सुन्दर उदाहरण अमरूकशतक

और भतृहरिशतकत्रय हैं। संगीतमय छन्द मधुर पदावली गीतिकाव्यों की विशेषता है। शृंगार, नीति, वैराग्य और प्रकृति इसके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। नारी के सौन्दर्य और स्वभाव का स्वाभाविक चित्रण इन काव्यों में मिलता है। उपदेश, नीति और लोकव्यवहार के सूत्र इनमें बड़े ही रमणीय ढंग से प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि मुक्तकाव्यों में सूक्तियों और सुभाषितों की प्राप्ति प्रचुरता से होती है।

मुक्तककाव्य की परम्परा स्फुट सन्देश रचनाओं के रूप में वैदिक युग से ही प्राप्त होती है। ऋग्वेद में सरमा नामक कुत्ते को सन्देशवाहक के रूप में भेजने का प्रसंग है। वैदिक मुक्तककाव्य के उदाहरणों में वसिष्ठ और वामदेव के सूक्त, उल्लेखनीय हैं। रामायण, महाभारत और उनके परवर्ती ग्रन्थों में भी इस प्रकार के स्फुट प्रसंग विपुल मात्रा में उपलब्ध होते हैं। कदाचित् महाकवि वाल्मीकि के शाकोद्गारों में यह भावना गोपित रूप में रही है। पतिवियुक्ता प्रवासिनी सीता के प्रति प्रेषित श्री राम के संदेशवाहक हनुमान, दुर्योधन के प्रति धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा प्रेषित श्रीकृष्ण और सुन्दरी दयमन्ती के निकट राजा नल द्वारा प्रेषित सन्देशवाहक हंस इसी परम्परा के अन्तर्गत गिने जाने वाले प्रसंग हैं। इस सन्दर्भ में भागवत पुराण का वेणुगीत विशेष रूप से उद्धरणीय है, जिसकी रसविभोर करने वाली भावना छवि संस्कृत मुक्तककाव्यों पर अंकित है।

काव्य का प्रयोजन

राजशेखर ने कविचर्या के प्रकरण में बताया है कि कवि को विद्याओं और उपविद्याओं की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। व्याकरण, कोश, छन्द और अलंकार - ये चार विद्याएँ हैं। 64 कलाएँ ही उपविद्याएँ हैं। कवित्व के 8 स्रोत हैं- स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृतिदृढ़ता और राग।

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदाढर्यमनिर्वेदश्च मातरो *ष्टौ कवित्वस्य (काव्यमीमांसा)

मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन बताये हैं-

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

(काव्य यश और धन के लिये होता है। इससे लोक-व्यवहार की शिक्षा मिलती है। अमंगल दूर हो जाता है। काव्य से परम शान्ति मिलती है और कविता से कान्ता के समान उपदेश ग्रहण करने का अवसर मिलता है।)

काव्य परिभाषा

कविता या काव्य क्या है इस विषय में भारतीय साहित्य में आलोचकों की बड़ी समृद्ध परंपरा है- आचार्य विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, पंडित अंबिकादत्त व्यास, आचार्य श्रीपति, भामह आदि संस्कृत के विद्वानों से लेकर आधुनिक आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा जयशंकर प्रसाद जैसे प्रबुद्ध कवियों और आधुनिक युग की मीरा महादेवी वर्मा ने कविता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने अपने मत व्यक्त किए हैं। विद्वानों का विचार है कि मानव हृदय अनन्त रूपतामक जगत के नाना रूपों, व्यापारों में भटकता रहता है, लेकिन जब मानव अहं की भावना का परित्याग करके विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी, जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। कविता मनुष्य को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित घेरे से ऊपर उठाती है और शेष सृष्टि से रागात्मक सम्बंध जोड़ने में सहायक होती है। काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। ये परिभाषाएं आधुनिक हिंदी काव्य के लिए भी सही सिद्ध होती है। काव्य सिद्ध चित्त को अलौकिक आनंदानुभूति कराता है तो हृदय के तार झंकृत हो उठते हैं। काव्य में सत्यं शिवं सुंदरम् की भावना भी निहित होती है। जिस काव्य में यह सब कुछ पाया जाता है, वह उत्तम काव्य माना जाता है।

काव्य के भेद

काव्य के भेद दो प्रकार से किए गए हैं–

1. स्वरूप के अनुसार काव्य के भेद और
2. शैली के अनुसार काव्य के भेद
3. स्वरूप के अनुसार काव्य के भेद

स्वरूप के आधार पर काव्य के दो भेद हैं - श्रव्य काव्य एवं दृश्य काव्य।

(1) श्रव्य काव्य

जिस काव्य का रसास्वादन दूसरे से सुनकर या स्वयं पढ़ कर किया जाता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। जैसे–रामायण और महाभारत।

श्रव्य काव्य के भी दो भेद होते हैं - प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक काव्य।

प्रबंध काव्य

इसमें कोई प्रमुख कथा काव्य के आदि से अंत तक क्रमबद्ध रूप में चलती है। कथा का क्रम बीच में कहीं नहीं टूटता और गौण कथाएँ बीच-बीच में सहायक बन कर आती हैं। जैसे–रामचरित मानस।

प्रबंध काव्य के दो भेद होते हैं - महाकाव्य एवं खण्डकाव्य।

(1) महाकाव्य इसमें किसी ऐतिहासिक या पौराणिक महापुरुष की संपूर्ण जीवन कथा का आद्योपांत वर्णन होता है। महाकाव्य में ये बातें होना आवश्यक है-

महाकाव्य का नायक कोई पौराणिक या ऐतिहासिक हो और उसका धीरोदात्त होना आवश्यक है।

जीवन की संपूर्ण कथा का सविस्तार वर्णन होना चाहिए।

शृंगार, वीर और शांत रस में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिए। यथास्थान अन्य रसों का भी प्रयोग होना चाहिए।

उसमें सुबह शाम दिन रात नदी-नाले वन पर्वत समुद्र आदि प्राकृतिक दृश्यों का स्वाभाविक चित्रण होना चाहिए।

आठ या आठ से अधिक सर्ग होने चाहिए, प्रत्येक सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन होना चाहिए तथा सर्ग के अंत में अगले अंक की सूचना होनी चाहिए।

(2) खंडकाव्य इसमें किसी की संपूर्ण जीवनकथा का वर्णन न होकर केवल जीवन के किसी एक ही भाग का वर्णन होता है। खंड काव्य में ये बातें होना आवश्यक हैं-

कथावस्तु काल्पनिक हो।

उसमें सात या सात से कम सर्ग हों।

उसमें जीवन के जिस भाग का वर्णन किया गया हो वह अपने लक्ष्य में पूर्ण हो।

प्राकृतिक दृश्य आदि का चित्रण देश काल के अनुसार और संक्षिप्त हो।

मुक्तक

इसमें केवल एक ही पद या छंद स्वतंत्र रूप से किसी भाव या रस अथवा कथा को प्रकट करने में समर्थ होता है। गीत कवित्त दोहा आदि मुक्तक होते हैं।

(2) दृश्य काव्य

जिस काव्य की आनंदानुभूति अभिनय को देखकर एवं पात्रों से कथोपकथन को सुन कर होती है, उसे दृश्य काव्य कहते हैं। जैसे–नाटक में या चलचित्र में।

शैली के अनुसार काव्य के भेद

1– **पद्य काव्य** – इसमें किसी कथा का वर्णन काव्य में किया जाता है, जैसे–गीतांजलि।

2– **गद्य काव्य** – इसमें किसी कथा का वर्णन गद्य में किया जाता है, जैसे– जयशंकर की कमायनी।।। गद्य में काव्य रचना करने के लिए कवि को छंद शास्त्र के नियमों से स्वच्छंदता प्राप्त होती है।

3– **चंपू काव्य** – इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश होता है। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' चंपू काव्य है।

काव्य का इतिहास

आधुनिक हिंदी पद्य का इतिहास लगभग 800 साल पुराना है और इसका प्रारंभ तेरहवीं शताब्दी से समझा जाता है। हर भाषा की तरह हिंदी कविता भी पहले इतिवृत्तात्मक थी। यानि किसी कहानी को लय के साथ छंद में बांध कर अलंकारों से सजा कर प्रस्तुत किया जाता था। भारतीय साहित्य के सभी प्राचीन ग्रंथ कविता में ही लिखे गए हैं। इसका विशेष कारण यह था कि लय और छंद के कारण कविता को याद कर लेना आसान था। जिस समय छापेखाने का आविष्कार नहीं हुआ था और दस्तावेजों की अनेक प्रतियां बनाना आसान नहीं था, उस समय महत्वपूर्ण बातों को याद रख लेने का यह सर्वोत्तम साधन था। यही कारण है कि उस समय साहित्य के साथ-साथ राजनीति, विज्ञान और आयुर्वेद को भी पद्य (कविता) में ही लिखा गया। भारत की प्राचीनतम कविताएं संस्कृत भाषा में ऋग्वेद में हैं, जिनमें प्रकृति की प्रशस्ति में लिखे गए छंदों का सुंदर संकलन हैं। जीवन के अनेक अन्य विषयों को भी इन कविताओं में स्थान मिला है।

2

भारतीय काव्य शास्त्र परंपरा

विश्व वांग्मय के आदि महाग्रन्थ ऋग्वेद (रचनाकाल अविनाश चंद दास के अनुसार भूगर्भ शास्त्र के अनुसार लाखों वर्ष पूर्व1, डॉ. ए. सी. दत्त के मत में 75000 से 50000 ई. पू., जर्मन विद्वान जैकोबी एवं बाल गंगाधर तिलक के मत में ज्योतिष शास्त्र के अनुसार 4500 ई. पू., पं. रामगोपाल द्विवेदी के अनुसार 50000 से 18000 ई. पू., विंटर नित्ज के अनुसार 2500 ई. पू., मक्स्मूलर के मत में 1500 ई.पू. में रचित) के 10 मंडलों, 1028 सूक्तों में विविध ऋषियों (वागाम्भ्रणी, घोषा काक्षीवती, अपाला, आत्रेयी, आदि महिला ऋषियों सहित) ने अन्य विषयों के साथ काव्य शास्त्र का भी अद्‌भुत वर्णन किया है। ऋग्वेद में सूर्य का वर्णन स्वर्ण-रथारोही के रूप में है।

'हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन।'

अर्थात- 'स्वर्ण-रथ पर आ रहा रवि भुवन सारे देखता।'

सामवेद में 1549 मंत्रों में मधुर-सरस प्रार्थना कर देवों की प्रसन्नता चाही गयी है। उषा के अनिंद्य सौंदर्य की प्रशंसा कर उसे सूर्य की प्रेयसी कहते हुए प्रार्थना की गयी है- '

'रूपसी नृत्यांगना सम वासन सुन्दर किये धारण।
उषा प्राची में प्रगट सौन्दर्य का करती प्रकाशन।
चिर पुरातन-चिर नवीन, यौवना रवि-प्रेयसी यह,
जन्मती हर प्रात फिर-फिर, अमर-अक्षय रूपसी यह।

– यजुर्वेद (मैक्समूलर के अनुसार 1000 ई.पू.) में सत–असत के संघर्ष (देवासुर संग्राम), वर्ण–व्यवस्था, दस्तकारी, विज्ञान, व्यवसाय तथा यज्ञ आदि के वर्णन में गद्य–पद्य का मिला–जुला प्रयोग किया गया है।

–अथर्ववेद के 20 कांडों, 730 सूक्तों व 6000 मंत्रों में धर्म, नीति, आयुर्वेद, सौर ऊर्जा, ज्योतिष, वर्ण–व्यवस्था, ईश–भक्ति, समाजशास्त्र आदि का काव्यमय वर्णन है। इसमें गोपथ ब्राम्हण भी है। प्रसिद्ध विद्वान डॉ. विष्णुकांत वर्मा ने वेदों में आध्यात्म विद्या तथा ऋग्वेद में सृष्टि उत्पत्ति एवं परमाणु विज्ञानं के अनेक प्रमाण दिए हैं।

–ब्राम्हण साहित्य (ई.पू. 500–100) में वेड मंत्रों के भाष्य, यज्ञ–विज्ञानं, वास्तु, गणित, दर्शन तथा एतिहासिक कथाएं हैं। इनमें भ्रामक मीमांसाओं व कर्मकांड को महत्व देते हुए अधिकांश सृजन गद्य में किया गया।

–आरण्यक ग्रंथों में द्फर्शन, आध्यात्म, आत्मा, ब्रम्ह, शिक्षा, व्याकरण, छड़, निरुक्त, कल्प, ज्योतिष आदि वेदांगों का सृजन मुख्यतः सन्यासियों के लिये किया गया।

–ई.पू. 600 से रचित 108 उपनिषदों में ब्रम्हा, आत्मा, मृत्योपरांत जीवन, पुनर्जन्म, वर्णाश्रम आदि का वर्णन है। अल्लोपनिषद की रचना मुगल सम्राट अकबर के काल में हुई। उपनिषदों में काव्य विधा को बहुत महत्व मिला। सृष्टि का निर्माण करने वाले परम तत्त्व को अनादी. अनंत, नित्य, सर्व–व्यापी मानने की औपनिषदिक अवधारणा अधुनातन विज्ञानं भी मानता है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते.
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाविशिष्यते.
पूर्ण है यह, पूर्ण है वह, पूर्ण से उत्पन्न पूर्ण.
पूर्ण से निकल पूर्ण, शेष तब भी रहे पूर्ण.

मुण्डक उपनिषद में/को धनुष, आत्मा को तीर तथा ब्रम्ह को लक्ष्य बताया गया है। क्रमशः आत्मा से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा वनस्पति उत्पन्न होने की औपनिषदिक धारणा को विज्ञानं भी स्वीकारता है।

– 4 उपवेदों (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, अर्थशास्त्र), 6 वेदांगों (शिक्षा, छंद, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एवं कल्प) तथा उपांगों में गद्य तह पद्य का निरंतर विकास हुआ। शिक्षा को वेदों की नासिका, छंद को चरण, व्याकरण को मुख, निरुक्त को कान, ज्योतिष को आँख तथा कल्प को हाथ कहा जाना बताता है कि इस काल में गद्य–पद्य दोनों को यथोचित महत्व मिला।

–सूत्र साहित्य (श्रौत, गृह्य तथा धर्म सूत्र) में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक कहने की काव्यात्मक शैली का विकास हुआ।

सन्यासः कर्म योगश्चः निःश्रेयस करावुभौ,
तयोस्तु कर्मसंयासातकर्मयोगो विशिष्टते।
करते हैं सन्यास औ' कर्मयोग कल्याण,
तदपि कर्म-सन्यास से कर्म-योग गुणवान।
तपस्विभ्योधिको योगी, ज्ञानिभ्योपि गतोधिकः,
कर्मश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवर्जुन।
तापस ज्ञानी सुकर्मी, से योगी है श्रेष्ठ,
बनकर योगी, पर्थ तू, हो जा सबसे ज्येष्ठ।

श्री कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश शरीर को आत्मा का वस्त्र बताया। इसी तरह कविता को अनुभूतियों का वस्त्र कहा जा सकता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते माँ फलेषु कदाचिन
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि।
तुझे कर्म अधिकार है, सोच न तू परिणाम,
तज निष्क्रियता कर्म कर, कुछ भी हो अंजाम।

काव्य को ई. पू. 1200 – ई. पू. 100 में रचित 18 पुराणों (ब्रम्ह, पद्म, वायु, विष्णु, भागवत, नारद, मार्कंडेय, अग्नि, भविष्य, ब्रम्हवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रम्हांड) तथा 18 उप-पुराणों (नृसिंह, सनत्कुमार, नन्द, शिव, दुर्वासा, नारद, कपिल, वामन, उपनस, मानव, वरुण, काली, महेश्वर, साम्ब, सौर, पराशर, मारीच, भार्गव) में पर्याप्त महत्त्व मिला। इनमें राजवंशों, युद्धों, पंथों, सम्प्रदायों, सृष्टि-उत्पत्ति व देवताओं का वर्णन है। 20,21,22 ई. पू. 200 –300 ई. के बीच लिखित 152 स्मृतियों तथा उनकी टीकाओं ने वेदान्त, सांख्य, लोकाचार, मानव-मूल्यों, वर्ना तथा दंड व्यवस्था आदि का समावेश है। 23 काव्य को शिखर पर ले जाने का कार्य किया महर्षि वाल्मीकि और 'रामायण' ने. एक बहेलिये द्वारा मिथुनरत क्रौंच युगल पर शर संधान के कारण नर की असमय मृत्यु तथा मादा के करूँ विलाप से शोकग्रस्त पूर्व दस्यु महर्षि वाल्मीकि के मुंह से अनायास ही निम्न काव्य-पंक्तियाँ निःसृत हुई। 23,24

मा निषाद प्रतिष्ठामत्वमगमः शाश्वती समाः,
यत्क्रौंच मिथुनादेकम्वधीरू काममोहितं..,

हे निषाद! तुझको कभी, किंचित मिले न मान,
रति-क्रीडारत क्रौंच का,वध दुष्कृत्य महान।

ई. पू. 500 में रचित रामायण ने काव्य के मानकों का निर्धारण किया. अभूतपूर्व कथावस्तु, अद्‌भुत चरित्र-चित्रण, उदात्त विषय, प्रांजल भाषा, चारू छंद-वैविध्य, भावः गाम्भीर्य, रम्य अलंकार, सर्व हितकर आदर्श, कालजयी नायक-नायिका, श्वास रोधक घटना क्रम, रोचक उपकथायें, मनहर प्रकृति चित्रण, विविध रसों का समन्वय, वैचारिक द्वंद, न्याय-अन्याय की संघर्ष कथा आदि काव्य-मानक रामायण में पहली बार सामने आये। 9 कांडों (मूलतः 5) तथा 24000 श्लोकों के इस ग्रन्थ में वाल्मीकि ने मछलियों रूपी करधनी का प्रदर्शन करती नदी के गति उसी तरह मंद होने की कल्पना के है, जैसे–पत्तियों द्वारा रात्रि में भोगी गयी कामिनियों की प्रातः काल होती है। यह जीवंत शब्द-चित्र अपनी मिसाल आप है।

मीनोपसन्दर्शितमेखलाम नदीवधूनाम गत्योद्य मंदाह,
कान्तोपभुक्तालासगामिनीनां प्रभात्कालेश्विव कामिनीनाम।
मत्स्य मेखला सुशोभित, सलिला वधु-गति मंद,
कान्त रमित रमणी चले, प्रातः अलस- गयंद।

साहित्य शिल्पीरचनाकार परिचय

आचार्य संजीव वर्मा 'सलिल' नें नागरिक अभियंत्रण में त्रिवर्षीय डिप्लोमा. बी.ई.., एम. आई.ई., अर्थशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र में एम. ऐ.., एल-एल. बी., विशारद,, पत्रकारिता में डिप्लोमा, कंप्युटर घप्लिकेशन में डिप्लोमा किया है। आपकी प्रथम प्रकाशित कृति 'कलम के देव' भक्ति गीत संग्रह है। 'लोकतंत्र का मकबरा' तथा 'मीत मेरे' आपकी छंद मुक्त कविताओं के संग्रह हैं। आपकी चौथी प्रकाशित कृति है 'भूकंप के साथ जीना सीखें'। आपनें निर्माण के नूपुर, नींव के पत्थर, राम नाम सुखदाई, तिनका-तिनका नीड़, सौरभः, यदा-कदा, द्वार खड़े इतिहास के, काव्य मन्दाकिनी 2008 आदि पुस्तकों के साथ-साथ अनेक पत्रिकाओं व स्मारिकाओं का भी संपादन किया है। आपको देश-विदेश में 12 राज्यों की 50 सस्थाओं ने 70 सम्मानों से सम्मानित किया, जिनमें प्रमुख हैं– आचार्य, 20वीन शताब्दी रत्न, सरस्वती रत्न, संपादक रत्न, विज्ञानं रत्न, शारदा सुत, श्रेष्ठ गीतकार, भाषा भूषण, चित्रांश गौरव, साहित्य गौरव, साहित्य वारिधि, साहित्य शिरोमणि, काव्य श्री, मानसरोवर साहित्य सम्मान, पाथेय सम्मान, वृक्ष

मित्र सम्मान, आदि। वर्तमान में आप म.प्र. सड़क विकास निगम में उप महाप्रबंधक के रूप में कार्यरत हैं।

भारतीय काव्य शास्त्र परंपरा को समृद्ध किया ई. पू. 1000 में महर्षि वेदव्यास रचित 18 पर्वों में 1 लाख श्लोकों में रासबिहारी गोवर्धनधारी श्री कृष्ण की कालजयी कथा के बहाने सत-असत के संघर्ष की महागाथा कहने वाले महाकाव्य/महाभारत (पूर्व नाम जय-विजय, भारत) ने. इसे धर्मशास्त्र, स्मृति तथा कार्ष्ण वेद, पंचम वेद भी कहा गया, आरम्भ में मात्र 20000 श्लोकों वाले इस महाकाव्य में श्री मदभगवद गीता की स्वतंत्र कथा, शिव व विष्णु संबन्धी प्रसंग (ई.पू.300), हरिवंश आदि जुड़ गए। इस कृति का उद्देश्य काव्य सौष्ठव नहीं धार्मिक-दार्शनिक-सामाजिक-राजनैतिक विसंगतियों, दोहरे जीवन मूल्यों, आडम्बरों तथा स्वार्थप्रधान प्रवृत्ति को उद्घाटित कर आदर्श, औदार्य, संयम, चारित्र्य, शौर्य, त्याग तथा समानता के सप्त सूत्रों को पुनर्प्रतिष्ठित करना है। रामायण में भी यही आदर्श आर्य-अनार्य सांस्कृतिक संघर्ष की कथा से स्थापित करने का प्रयास किया गया था। रामायण में राम स्वयं शस्त्र उठाकर संघर्ष करते हैं, जबकि महाभारत में कृष्ण निःशास्त्र रहकर परिवर्तन का पथ प्रशस्त करते हैं। राम के संघर्ष का हेतु अपनी पत्नी को पाना है, किन्तु कृष्ण तो सत्य की स्थापना के लिए संकल्पित हैं। इन ग्रंथों से भारतीय काव्य परंपरा की प्रकृति ज्ञात होती है, जो उदात्तता की ओर उन्मुख होने को काव्य सृजन का लक्ष्य मानती है। 30-31 महाभारत का उद्देश्य अन्य होते हुए भी इसमें काव्य गुणों तथा पृकृति चित्रण के मनिहार प्रसंग शब्दांकित हैं। चंद्रोदय का निम्न प्रसंग रचनाकार के सामर्थ्य की बानगी है-

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगंडपांडुना,
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिग्लंक्रिता,
शुभ्र कामिनी गाल सम, शोभित शतदल कन्त,
नयनानन्दी चन्द्र से, सज्जित प्राच्य दिगंत।

अन्य प्रसंग में द्रौपदी की अनिंद्य रूप्राशी का वर्णन करते हुए स्वयम्वर में जाते ब्राम्हण युधिष्ठिर से कहते हैं कि उस क्षीण कतिवाली, निर्दोष अंगवाली धृष्टद्युम्न की बहिन की काया से निकलने वाली नीलकमल सी गंध एक कोस दूर तक बहती है।

स्वसा तस्यानवद्यांगी द्रौपदी तनुमध्यमा,
नीलोत्पल्सम गन्धो यस्याः कोशात प्रवाती वै,

कृष्णा काम्या क्षीण कटि, तन्वंगी सुकुमार,
नील पद्म सी सुवासित, कोसों बहे बयार,

भारतीय काव्य परंपरा के दुर्निवार आकर्षण से बौद्ध (त्रिपिटिक- विनय, सुत्त, अभिधम्म, थेरी गाथा) तथा जैन (12 अंग, 12 उपांग, 10 प्रकीर्ण, सूत्रदि) भी नहीं बच पाए।

इस परंपरा ने वैदिक, लौकिक- प्राकृत, पाली, अपभ्रंश, शौरसेनी, मागधी, संस्कृत, बंगला, मराठी, मैथिली, ब्रिज भोजपुरी, अंगिका, बज्जिका, तमिल. तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, गुजराती, मालावी, निमाड़ी, बुन्देली, बघेली, मारवाडी, शेखावाटी, काठियावाडी छतीसगढी, उड़िया आदि पर भी अपना प्रभाव छोड़ा और उन्हें अपने दामन में समाहित कर लिया।

सन्दर्भ: 1. शिवदत ज्ञानी- भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 203. 2. सुशील धर द्विवेदी- भारतीय संस्कृति के पांच अध्याय, पृष्ठ 159, 3 से 6. ऋग्वेद- 10-125, 10-39, 8-92, 1/35-2, 7. सामवेद- 3-61-1 -5, 8. उक्त 2, पृष्ठ 161, 9. उक्त 1, पृष्ठ 203, 10. अथर्ववेद 3-4-2, 11. उक्त 2, पृष्ठ 163, 12. वृहदारण्यक 2-5-19, 13. मुंडकोपनिषद 1-1-6, 14. तैत्तरीयोपनिषद 2-1/6/7, 15. रामधारी सिंह दिनकर- संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 163, 16 से 19 . गीता 5/2, 6/46, 2/22-23, 2/47, 20. उक्त 1 पृष्ठ220, 21. उक्त 1 पृष्ठ259, 22. उक्त 2 पृष्ठ 172-176, 23. हीरामणि द्वारकादास बरसैंया- भारतीय संस्कृति: क्या और कैसे? पृष्ठ 52-53, 24. उक्त 2 पृष्ठ179, 25. उक्त 1 पृष्ठ215-216, 26. राधाकुमुद मुखर्जी- प्राचीन भारत पृष्ठ41, 27. उक्त 25, 28. उक्त 24, 29. उक्त1 पृष्ठ 217-218, 30. उक्त 2 पृष्ठ180-181, 31. उक्त 26, 32. महाभारत द्रोण पर्व 11/259, 33. महाभारत आदि पर्व 183/10, 34. उक्त2 पृष्ठ 182-185.

प्रश्नोत्तर कड़ी - 1

आचार्य संजीव वर्मा 'सलिल' नें प्रस्तुत आलेख श्रृंखला के प्रथमांक में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भी प्रेषित किये हैं। अपेक्षा है कि हमारे पाठक अपनी शंकाओं से निजात पा सकेंगे।

साहित्य क्या है?

मानव-मन में तरंगित होनेवाली ललित भावनाओं और अनुभूतियों की शब्दों में सार्थक और कलापूर्ण अभिव्यक्ति ही साहित्य है।

साहित्य मानव-मन की रमणीय- कलापूर्ण अभिव्यक्ति है।

अनुभूतियों और विचारों की अनगढ़ अभिव्यक्ति को साहित्य नहीं कहा जा सकता। अभिव्यक्ति सरस, रुचिपूर्ण तथा हृद्स्पर्शी होना चाहिए, ताकि वह श्रोता या पाठक में मन में सुप्त भाव-तरंगों के उद्वेलित कर उसे रस-प्लावित कर सके। 'स्व' तक सीमित अथवा हर प्रकार के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति को भी साहित्य नहीं कहा जा सकता। उक्त परिभाषा में 'ललित' शब्द का संकेत यही है कि 'शिवत्व' अर्थात सबके लिए हितकर, सर्व कल्याणकारी-सरस भावाभिव्यक्ति ही साहित्य है।

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'सहित' शब्द से मान्य है। 'सहितस्य भाव:' (सहित का भाव) साहित्य है। 'सहित' शब्द के दो अर्थ 'साथ' तथा 'समुदाय' हैं। मानव के उद्भव से अब तक सृजित ज्ञान और अनुभव का भण्डार साहित्य है। जैनेन्द्र जी के अनुसार- 'मनुष्य का और मनुष्य जाति का भाषाबद्ध या अक्षर्व्यक्त ज्ञान ही 'साहित्य' है।'

व्यापक अर्थ में साहित्य किसी भाषा में सृजित (लिखित / मौखिक) ज्ञान का भण्डार अथवा ग्रंथों का समुदाय है। हिंदी साहित्य से हिंदी वांग्मय के समस्त ग्रंथों, किसी विषय के साहित्य से उस विषय की सकल पुस्तकों का आशय अभिप्रेत है। यहाँ 'साहित्य' से आशय मानव के भावों और विचारों के प्रगटीकरण से है, भले ही उनकी प्रस्तुति कलापूर्ण न हो किन्तु उनका सृजन सभी के भले हेतु ही किया जाता है। साहित्य और असाहित्य की कसौटी सर्व कल्याण भाव ही है।

एक मान्यता यह भी है कि सच्चा साहित्य कभी काल बाह्य (बासी, निरुपयोगी या अप्रासंगिक) नहीं होता। उसमें नित नवीनता, प्रति क्षण रमणीयता होती है। विज्ञानं या अन्य विषयों के साहित्य में नवीन मान्यताओं, नयी खोजों या आविष्कारों से सतत परिवर्तन होते रहते हैं, किन्तु साहित्य में अभिव्यक्त चिरंतन सत्य सदा अपरिवर्तनीय होता है। क्रौंच-वध की घटना देश-काल की सीमा से बंधी थे पर क्रौंची के विरह से द्रवित महर्षि वाल्मीकि रचित श्लोक देश-काल की सीमा लांघकर सार्वजनीन-सार्वदेशिक साहित्य की सृष्टि कर सका। यही साहित्य और असाहित्य का अंतर है।

'सहित' के अन्य अर्थ 'हितेन सहितं' (हित-सहित) के अनुसार लोकहित या लोक कल्याण को साहित्य से पृथक नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से मानव में अमानवीय, निकृष्ट, क्षुद्र, पर- पीडाकारी भावनाएं उत्पन्न करनेवाली

रचना को साहित्य नहीं कहा जा सकता। यह व्युत्पत्ति 'कला, कला के लिए' के सिद्धांत का निराकरण कर यह प्रतिपादित करता है कि साहित्य सृजन निरुद्देश्य नहीं हो सकता। 'साहित्य को पुस्तकों का समुच्चय' या 'संचित ज्ञान का भण्डार' मानने का पाश्चात्य मत साहित्य की व्यापक भारतीय अवधारणा के अनुकूल नहीं हैं। साहित्य को 'जीवन की व्याख्या या आलोचना' अथवा 'जीवन की अभिव्यक्ति' मानने का मत भारतीय दृष्टिकोण से अपेक्षाकृत निकट होते हुए भी पूर्णत: स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि साहित्य न तो जीवन के हर पक्ष की व्याख्या करता है, न ही जीवनेतर ज्ञान की व्याख्या करने को प्रतिबंधित करता है।

साहित्य का क्षेत्र मस्तिष्क नहीं, हृदय है। यह कथन भावनात्मक साहित्य के बारे में सटीक है पर वैज्ञानिक साहित्य के बारे में नहीं। साहित्यकार में अनुभूति की तीव्रता रचना को हृद्स्पर्शी तथा विचारों को गतिशील बनाती है। भारतीय चिंतन के अनुसार साहित्य का उद्देश्य जीवन की सरस व्याख्या द्वारा जीवन में सरसता लाकर मानव को मानव बनाना है।, परिष्कृत करना है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'साहित्य जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब' (समाज का दर्पण) है, क्योंकि साहित्य में समाज के विविध रूपों का समावेश होता है, साहित्य समाज में समाज का चेहरा दिखता है। वस्तुत: साहित्य समाज का समाज का दर्पण मात्र नहीं होता। दर्पण खुद निष्क्रिय होता है। साहित्य जड़ नहीं है, वह चेतना से उद्भूत है तथा सचेत कर सुधार की प्रेरणा देता है। साहित्य समाज का दर्पण मात्र नहीं, अपितु सचेतक, सुधारक तथा निर्माणक भी है।

आलम्बते तत्क्षणम्भ्सीव विस्तारमन्यत्र न तैलबिन्दु: --मंखक

कैसे करें बखान?, कवि गुण का साहित्य बिन,

कैसे हो विस्तार? तेल-बिंदु का 'सलिल' बिन।

जिस तरह पानी की सतह के बिना तेल-बिंदु का विस्तार नहीं हो पता उसी तरह साहित्य के बिना कवि की कुशलता व्यक्त नहीं हो पाती।

साहित्य कल-कल निनादिनी नर्मदा की अबाध धारा के समान विज्ञ-सुह्रिद्जनों को नित नूतन परिवेश धारण कर आह्लादित करता है।

काव्य और कविता क्या है?

काव्य प्रकाशकार मम्मट के अनुसार– 'तद्दोशौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुन: क्वापि' अर्थात 'काव्य ऐसी रचना है, जिसके शब्दों और अर्थों में दोष

बिलकुल न हो, किन्तु गुण अवश्य हो, अलंकार हों या न हो.' तदनुसार गुणों की उपस्थिति तथा दोषों का अभाव ही काव्य का लक्षण है।

पंडित प्रवर जगन्नाथ के शब्दों में। 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम' अर्थात 'रमणीय अर्ध प्रतिपादित करने वाले शब्द काव्य हैं।'

अम्बिकादत्त व्यास के मतानुसार श्लोकोत्तरानन्ददाता प्रबंधः कव्यनाम्भाक' अर्थात- 'जिस रचना को पढ़कर लोकोत्तर-अलौकिक आनंद हो, वही काव्य है।

महापात्र विश्वनाथ के लिए 'रस से परिपूर्ण वाक्य ही काव्य है'- 'रसात्मकं वाक्यम काव्यम.'

लोकोत्तर आनंद, रस, रमणीयता, रागात्मकता कोंई भी शब्द दें काव्य का लक्षण या उद्देश्य दर्द-दुःख को घटना/मिटाना तथा सुख/आनंद को बढ़ाना है। सार यह की जो रचना पढ़ने या सुनाने पर मानव-मन में आशा और आनंद का संचार करे, वही काव्य है। यह भी कि जो रचना हिट पर कोई प्रभाव न छोड़े, उसे काव्य नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः काव्य मानव-जीवन की अनुभूतियों, चित्त-वृत्तियों तथा श्रृष्टि सौंदर्य की व्याख्या है। दैनंदिन मानव-जीवन की सरस, हृदयस्पर्शी, आनंददायी व्याख्या जिस रचना में जितनी अधिक होगी, वह उतनी अधिक सफल कही जायेगी पाठक या श्रोता अपना सुख-दुःख भूलकर कृति के घटनाक्रम और पात्रों के साथ तन्मय होकर भाव-लोक में विचरण करने लगे, यही काव्यानंद है। काव्यात्मा या काव्यात्मा पर चर्चा अगली कड़ी में होगी।

प्रसिद्ध विचारक सुकरात के अनुसार कविता 'दैवी प्रेरणा से प्रेरित सन्देश है' किन्तु उसके शिष्य प्लेटो के मत में 'कविता सूक्ष्म जगत की प्रतिच्छायामात्र अर्थात मिथ्या व क्षणभंगुर है।अरस्तू उक्त दोनों से अलग कविता को आनंददायी छंद-बद्ध अनुकृति कहा।

सामान्यतः, काव्य से आशय 'काव्य-कृति' से तथा कविता से 'काव्य कृति का अंश' से लिया जाता है। कविताओं का संग्रह काव्य कहलाता है। यथा- महादेवी जी के काव्य से एक कविता...

कविता का महत्वः अग्नि पुराण के अनुसार काव्य-रचियता (कवि) ब्रम्हा के समकक्ष है।

अररे खलु संसार कविरेव प्रजापति–

भारतीय काव्यशास्त्र/काव्य लक्षण

भारतीय काव्यशास्त्र

काव्य की उत्पत्ति के समय से ही उसके लक्षणों पर विचार होने लगा। पाठक सहृदय के लिए 'काव्य किसे कहेंगे' या 'कविता क्या है' वह मूलभूत प्रश्न है, जिसकी विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोण से व्याख्या की है। कवि के द्वारा जो कार्य संपन्न हो, उसे 'काव्य' कहते हैं – 'कवेरिदं कार्यं भावो वा'। कवि को 'सर्वज्ञ' और द्रष्टा भी माना गया है।

भरतमुनि

काव्य के लक्षणों पर विचार करने वाले पहले आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य को ही साहित्य या काव्य भी माना गया है। राजशेखर ने नाट्यशास्त्र को 'पंचम वेद' की संज्ञा दी है। हालांकि भरत ने स्पष्टत: किसी काव्य-लक्षण का उल्लेख नहीं किया है। भरत ने काव्य की शोभा बढ़ाने वाले 36 लक्षणों का वर्णन किया है और काव्य कला की प्रशस्ति इस प्रकार की है --

'मृदुललित पदाढ्यं गूढ़ं शब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यं।
बहुकृतरसमार्गं संधिसंधानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्यं नाटकप्रेक्षकाणाम्'

यहाँ क्रमश: सात विशेषताएं वर्णित हैं – मृदुललित पदावली, गूढ़शब्दार्थहीनता, सर्वसुगमता, युक्तिमत्ता, नृत्योपयोगयोग्यता, बहुकृतरसमार्गता तथा संधियुक्तता। इसमें पाँचवाँ तथा सातवाँ नाटक की दृष्टि से वर्णित हैं, शेष में गुण, रीति, रस एवं अलंकार का वर्णन है।

भामह

काव्य-लक्षण का वास्तविक विकास भामह से होता है। उनके अनुसार शब्द एवं अर्थ का सहभाव ही काव्य है – 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। वे कहते हैं कि जहां शब्द और अर्थ परस्पर सहित भाव या प्रतिस्पर्धा करते हुए सामने आते हैं, वहाँ शब्दार्थ सन्निधि में काव्यत्व होता है। भामह के अनुसार शब्दालंकार और अर्थालंकार, दोनों का सहभाव ही काव्य-सौंदर्य का द्योतक है। वे शब्द और

अर्थ को समान महत्व देते हुए दोनों के प्रतिस्पर्धा और सामंजस्य की उपयोगिता सिद्ध करते हैं। शब्द और अर्थ के इसी प्रतिस्पर्धा और सामंजस्य से चारूत्व अर्थात् सौन्दर्य की निष्पत्ति होती है, जिसे बाद में पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयता कहा है।

दंडी

दंडी ने काव्य का लक्षण बताते हुए माना कि 'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्नापदावली', अर्थात काव्य का शरीर वांछित अर्थ को उद्घाटित करने वाली पदावली होती है। डॉ. नगेंद्र ने भामह के काव्य लक्षण से दंडी के काव्य लक्षण की समता का विश्लेषण किया है। नगेंद्र के अनुसार इष्टार्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द और शब्दार्थ का साहित्य, सहभाव या सामंजस्य एक ही बात है, क्योंकि कोई शब्द इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति तभी कर सकता है, जब शब्द और अर्थ में पूर्ण सहभाव या सामंजस्य हो।

वामन

'रीतिरात्मा काव्यस्य' रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन ने काव्य का कोई स्वतंत्र लक्षण नहीं दिया है, किंतु रीति वर्णन में उनके विचार उपलब्ध होते हैं। उनके अनुसार सौंदर्य के कारण काव्य ग्राह्य होते हैं और अलंकार को ही सौंदर्य कहते हैं। 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौंदर्यमलंकाराः।' काव्य में सौंदर्य दोषों के त्याग और गुणों के ग्रहण के कारण उत्पन्न होता है। वे गुण और अलंकार से युक्त शब्दार्थ को ही काव्य कहते हैं। वामन अलंकारों की अपेक्षा गुण को अधिक महत्व देकर काव्य-चिंतन को एक नई दिशा प्रदान करते हैं, साथ ही भामह और दंडी के विचार-परंपरा को आगे बढ़ाते हैं।

रूद्रट

काव्य-लक्षण के विवेचन के क्रम में रूद्रट की कोई महत्वपूर्ण देन नहीं है। वे शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य मानते हैं - 'शब्दार्थौ काव्यम्'।

कुंतक

कुंतक के अनुसार अलंकार से युक्त शब्द और अर्थ काव्य है। वे अलंकार को काव्य के बाह्य सौंदर्य का विधायक न मानकर उसका मूल आधार स्वीकार

करते हैं। वे काव्य का व्यवस्थित लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि काव्यमर्मज्ञों को आह्लादित करने वाली वक्रतामय, कविकौशल-युक्त रचना में स्थित शब्द और अर्थ ही काव्य है। वे शब्द और अर्थ, दोनों को सहभाव को काव्य मानते हैं - 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी। बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी' (वक्रोक्तिजीवितम्, 1/7)

मम्मट

आचार्य मम्मट का लक्षण प्रौढ़ एवं सुदीर्घ चिंतन का परिणाम है। उनके अनुसार दोषरहित, गुणसहित तथा यथासंभव अलंकारयुक्त शब्दार्थ ही काव्य है। उन्होंने काव्य में अलंकार की स्थिति वैकल्पिक मानकर उसे गौण बना दिया है - 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' अपने प्रसिद्ध ग्रंथश्काव्य प्रकाश' में मम्मट ने काव्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि वहां (काव्य में)शब्द और अर्थ का सहभाव दोष रहित,गुण सहित और कहीं पर बिना अलंकृति के भी होता है। अदोष तात्पर्य है काव्य दोषों जैसे–क्लिष्टत्व, श्रुतिकटुत्व, ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व आदि दोषों से रहित होना चाहिए। गुण का तात्पर्य है भरत मुनि द्वारा निर्दिष्ट काव्य गुणों जैसे माधुर्य, ओज, समता, समाधि, श्लेष आदि गुणों से युक्त होना चाहिए। ऐसे शब्दार्थ के संयोजन में कहीं-कहीं बिना अलंकार के भी काम चल सकता है।

विश्वनाथ

विश्वनाथ के अनुसार 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम' अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य होता है। यहाँ आचार्य विश्वनाथ ने पहली बार शब्दार्थ की जगह वाक्य में काव्यत्व की स्थिति मानी है। उनका कहना है कि केवल सुन्दर शब्दों को एक साथ रख देने से काव्य नहीं हो जाता। काव्यत्व तो तब होगा जब वे सब एक वाक्य का रूप लेकर आएं और वाक्य भी रसात्मक होना चाहिए। रसात्मक के भीतर चारूत्व, दोषराहित्य, गुणों का समावेश और समुचित अलंकार विधान भी आ जाता है। दरअसल यहाँ पर आचार्य ने अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों का समावेश कर उसे रस से जोड़ कर काव्य तत्त्व के रूप में रसात्मकता को मान्यता दी, जो कि उचित ही था।

पंडितराज जगन्नाथ

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम' अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है। रमणीय का अर्थ वही पूर्ववर्ती रसात्मकता है। यहाँ मौलिक स्थापना यह है कि काव्यत्व शब्द में निहित होता है न कि सम्पूर्ण वाक्य में। रमणीयता या चारूत्व की स्थिति शब्द में मानने के पीछे वेदांत दर्शन और व्याकरण को आधार बनाया गया है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त सभी आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ के लक्षण अधिक व्यवस्थित तथा भारतीय काव्य-लक्षण-अवधारणा के तीन चरण हैं। अदोषता, रसवत्ता एवं रमणीयता - इन तीन विशिष्टताओं से युक्त लक्षण प्रस्तुत कर संस्कृत-आचार्यों ने काव्य में भाव, कला एवं बुद्धि का समाहार किया है। हिंदी में रामचंद्र शुक्ल ने काव्य को परिभाषित करते हुए लिखा - 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।' शुक्ल जी की यह परिभाषा बताती है कि भारतीय साहित्यशास्त्र व्यावहारिक एवं संतुलित है। रस से उसका अभिप्राय आनंदबोध अथवा सौंदर्यबोध से है। रमणीयता जीवन के उस तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें अलौलिक भावना का सौंदर्य निहित होता है, जो लोकजीवन को प्रभावित करता है। जीवन का राग झंकृत करने वाले काव्य-लक्षण की प्रस्तुति भारतीय काव्यशास्त्र की उपलब्धि है, जिसमें उसके बाह्य एवं आंतरिक पक्षों का समन्वय हुआ है।

भारतीय काव्यशास्त्र/काव्य हेतु

काव्य हेतु किसी कवि की वह शक्ति है, जिससे वह काव्य रचना में समर्थ होता है। इसके अंतर्गत काव्य-सृजन की विविध प्रक्रियाओं का विवेचन किया जाता है। काव्य हेतु दो शब्दों से मिलकर बना है- काव्य और हेतु। जिसमें काव्य का अर्थ 'कविता' और हेतु का अर्थ 'कारण' होता है। इसे काव्य रचना का कारण भी कह सकते हैं। काव्य हेतु को 'काव्य कारण' कहने की भी परंपरा रही है। आचार्य वामन ने काव्य हेतु की जगह 'काव्यांग' शब्द का प्रयोग किया है। मुख्यतः काव्य के तीन हेतु माने गए हैं - प्रतिभा, व्युत्पत्ति (निपुणता) और

अभ्यास। भट्टतौत कवि की नवोन्मेषशालिनी बुद्धि (innovative mind) को प्रतिभा कहते हैं - 'प्रज्ञा नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'। अभिनवगुप्त के अनुसार अपूर्व वस्तु के निर्माण में सक्षम बुद्धि ही प्रतिभा है - 'प्रतिभा अपूर्व वस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा'। इसके कारण कवि नवीन अर्थ से युक्त प्रसन्न पदावली की रचना करता है। व्युत्पत्ति बहुज्ञता अथवा निपुणता को कहते हैं। शास्त्र तथा काव्य के साथ लोकव्यवहार का गहन पर्यालोचन करने के पश्चात कवि में यह गुण समाहित होता है। काव्य रचना की बारंबार आवृत्ति ही अभ्यास है। इसके कारण कवि की रचना परिपक्व और ऊर्जस्वित होती जाती है।

भामह

काव्य रचना का मूल कारण या हेतु बताते हुए आचार्य भामह कहते हैं-
'गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जड़धियो*प्यलम्।
काव्यं तु जायते जातुं कस्यचित् प्रतिभावत:' (काव्यालंकार-1-14)

अर्थात् गुरू के उपदेश से जड़ बुद्धि वाले के लिए भी शास्त्र अध्ययन करने के लिए सुलभ हो जाता है या उतना ही पर्याप्त होता है। लेकिन काव्य सृजन तो किसी प्रतिभावान की प्रतिभा से ही उत्पन्न होता है। बिना प्रतिभा के कोई भी काव्य रचना में समर्थ नहीं हो सकता है। आगे भामह ने प्रतिभा के परिष्कार और पोषण के लिए काव्य रचना के पहले कवि को यह निर्देश दिया है कि विधिवत् शब्द और अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसके लिए उसे शास्त्र ज्ञान, कोशगत अर्थ की जानकारी, छंदशास्त्र, व्याकरण और अपने से पहले के श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं का भली-भाँति अनुशीलन करना चाहिए, जिससे उसके द्वारा रचित काव्य न केवल सरसता व निर्दोषता से युक्त हो, बल्कि उसकी रचना में नवीनता और अपूर्वता के गुण भी समाहित होते हैं।

दंडी

दंडी के अनुसार काव्यहेतु -
'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगो*स्या: कारणं काव्यसंपद:।'(काव्यादर्श-1/103)

अर्थात् यहाँ पर दण्डी काव्य के प्रमुख हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए बताते हैं कि काव्य सम्पदा के कारणों में नैसर्गिक प्रतिभा, बहुत सारे शास्त्रों को सुनने से प्राप्त निर्मल बुद्धि और निरन्तर तीव्र अभ्यास आते हैं। काव्य रचना के लिए

केवल प्रतिभा से कार्य नहीं होता बल्कि उसके साथ-साथ अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं व शास्त्रों के सुनने - पढ़ने से उत्पन्न निर्मल बुद्धि की भी जरूरत होती है। काव्य सृजन के विविध प्रकारों और पद्धतियों की जानकारी के बिना उचित रूप में अभ्यास करने में कवि की प्रतिभा सफल नहीं हो सकती है। प्रतिभा के साथ निर्मल बुद्धि की आवश्यकता पर बल देने का कारण यह है कि यदि कवि की बुद्धि शुद्ध नहीं है तो वह अपनी प्रतिभा का दुरूपयोग भी कर सकता है या उसके भटकाव की भी संभावना हो सकती है। प्रतिभा का सही ढंग से उपयोग निर्मल बुद्धि ही कर सकती है। उदात्त और श्रेष्ठ कवि का अन्त:करण अत्यधिक मात्रा में सत्व सम्पन्न या शुद्ध होता है। जिसके कारण वह अभ्यास में तीव्रगामी होता है और शीघ्र ही उत्तम कोटि के काव्य सृजन का सामर्थ्य हासिल कर लेता है।

वामन

वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में काव्य-हेतु के लिए 'काव्यांग' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार लोक, विद्या तथा प्रकीर्ण - ये तीन काव्य निर्माण की क्षमता प्राप्त करने के अंग हैं।

'लोको विद्या प्रकीर्णच काव्यांगानि।' - काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/3/1

प्रतिभा को जन्मजात गुण मानते हुए इसे प्रमुख काव्य हेतु स्वीकार किया गया है - 'कवित्व बीजं प्रतिभानं कवित्वस्य बीजम्।' प्रतिभा के अतिरिक्त वे लोकव्यवहार, शास्त्रज्ञान, शब्दकोश आदि की जानकारी को भी काव्य हेतुओं में स्थान देते हैं। ध्यातव्य है कि काव्यांग में वामन ने लोक तथा विद्या के पश्चात ही प्रतिभा को महत्व दिया है।

रुद्रट

इनके अनुसार काव्य के तीन कारण हैं - शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति एवं अभ्यास। इन्होंने प्रतिभा के भी दो भेद किए हैं - सहजा तथा उत्पाद्या। सहजा कवियों में जन्मजात होती है एवं वही काव्य का मूल तत्त्व है। उत्पाद्या लोक-व्यवहार, शास्त्र अध्ययन एवं अभ्यास से उत्पन्न होती है।

आनंदवर्धन

काव्य का प्रमुख हेतु प्रतिभा (शक्ति) को मानते हुए आनंदवर्धन ने बताया कि प्रतिभारहित व्यक्ति कोई रचना नहीं कर सकता। प्रतिभा और व्युत्पत्ति में से वे प्रतिभा को ही श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं।

'न काव्यार्थ विरामो*स्ति यदि स्यात् प्रतिभा गुणः।
सत्स्वपि पुरातन कविप्रबंधेषु यदि स्यात् प्रतिभागुण।' – ध्वन्यालोक, 4/6

उनके अनुसार प्रतिभाशाली व्यक्ति में वर्ण्य-विषयों का अभाव नहीं होता, वह प्राचीन वर्णित विषयों में भी नए भाव भर देता है।

राजशेखर

इन्होंने माना कि 'प्रतिभा व्युत्पत्ति मिश्रः समवेते श्रेयस्यौ इति' अर्थात् प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों समवेत रूप में काव्य के श्रेयस्कार हेतु हैं। राजशेखर प्रतिभा के दो भेद स्वीकारते हैं – कारयित्री एवं भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा जन्मजात होती है तथा इसका सम्बन्ध कवि या रचनाकार से है। भावयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध सहृदय पाठक या आलोचक से है। कारयित्री प्रतिभा भी तीन प्रकार की होती है – सहजा, आहार्या तथा औपदेशिकी। सहजा अर्थात् जो पूर्व जन्म के संस्कार से उत्पन्न होती है तथा इसमें जन्मांतर संस्कार की अपेक्षा होती है। आहार्या का उदय इसी जन्म के संस्कारों से होता है, जबकि औपदेशिकी की उत्पत्ति मंत्र, तंत्र, देवता तथा गुरु आदि के उपदेश से होती है।

मम्मट

काव्य हेतु पर विचार करते हुए आचार्य मम्मट ने अपने से पहले और बाद के सभी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतों में सबसे अधिक सुव्यवस्थित, व्यापक और स्पष्ट विचार प्रकट किया है। काव्य प्रकाश में वह लिखते हैं –

'शक्तिर्निपुणता लोक काव्यशास्त्राद्यवे क्षणात्।
काव्य ज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे' (काव्य प्रकाश 1/3)

काव्य के उद्भव या निर्माण में शक्ति (प्रतिभा), निपुणता, लोक- काव्य -शास्त्र आदि का अवलोकन, काव्य के जानकारों (कवि और काव्य के सिद्धांत की जानकारी रखने वाले लोगों) द्वारा प्राप्त शिक्षा के अनुसार अभ्यास प्रमुख हेतु या कारण होते हैं। मम्मट का दृष्टिकोण सबसे अधिक व्यापक और व्यावहारिक है। कवि की प्रतिभा, शास्त्र का ज्ञान और अभ्यास की चर्चा उनके पहले के आचार्य कर चुके थे। मम्मट की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने काव्य और शास्त्र के साथ-साथ लोक के अवलोकन (Observation) को महत्व दिया और स्वतंत्र रूप से अभ्यास करने में समय व श्रम के अपव्यय को ध्यान में रखते हुए कवियों और आचार्यों के मार्गदर्शन में अभ्यास का निर्देश दिया है। शक्ति या

प्रतिभा और निपुणता के साथ प्रामाणिक मार्गदर्शन जरूरी है। लोक, शास्त्र और काव्य के निरीक्षण करने के बाद पर्याप्त मात्रा में उचित विचार-विमर्श के बाद काव्य रचना में प्रवृत्त होने का निर्देश देना मम्मट के आचार्यत्व का ही परिचायक नहीं है, अपितु इससे यह भी पता चलता है कि काव्य कर्म मात्र कौतुक क्रीड़ा या शब्द व्यापार न होकर एक अत्यंत महत्वपूर्ण और जिम्मेदारी भरा कर्त्तव्य है। इसके पालन में सामर्थ्य हासिल करने के लिए प्रतिभा प्रबंधन व मार्गदर्शन आवश्यक है।

पंडितराज जगन्नाथ

इन्होंने प्रतिभा को ही एकमात्र काव्यहेतु स्वीकार किया। प्रतिभा के दो भेदों - कारयित्री एवं भावयित्री - को मानते हुए भी इन्होंने केवल कारयित्री प्रतिभा को महत्व दिया। केवल प्रतिभा को ही काव्यहेतु मानने के कारण इन्हें 'केवल प्रतिभावादी' ('प्रतिभैवकेवला कारणम') भी कहा जाता है। प्रतिभा के बारे में उनका मत है कि काव्य-रचना के अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थितिमात्र करानेवाली क्षमता है - 'सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति।'। उन्होंने प्रतिभा के तीन विभाग किए - अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास। अदृष्ट प्रतिभा की उत्पत्ति देवकृपा, महापुरुष आदि के वरदान से होती है। किसी-किसी में व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के अभाव में भी शैशवावस्था से काव्य-निर्माण की क्षमता आ जाती है। अतः व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को काव्य का कारण न मानकर एकमात्र प्रतिभा को ही माना जा सकता है। जगन्नाथ ने यह भी माना है कि प्रतिभा की विविधता और विलक्षणता के कारण ही काव्य में विविधता और विलक्षणता आती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त जिन आचार्यों ने काव्यहेतु संबंधी मत व्यक्त किए हैं, उनमें दो प्रकार के विचार दिखाई पड़ते हैं। एक मत के अनुसार प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास सम्मिलित रूप से काव्य के कारण हैं। इस विचार-वर्ग में रुद्रट तथा मम्मट का स्थान प्रमुख है। दूसरे मत के अनुसार काव्य का कारण केवल प्रतिभा है और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उसके संस्कारक या सहायक तत्त्व हैं। इस वर्ग के अंतर्गत राजशेखर तथा जगन्नाथ जैसे आचार्य प्रमुख हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र/काव्य प्रयोजन

काव्य प्रयोजन का तात्पर्य है काव्य का उद्देश्य अथवा रचना की आंतरिक प्रेरणा शक्ति। संस्कृत काव्यशास्त्र में किसी विषय के अध्ययन के लिए चार क्रमों का निर्धारण किया गया है - प्रयोजन, अधिकारी, संबंध और विषय-वस्तु। इस समुच्चय को 'अनुबंधचतुष्टय' कहते हैं। इस अनुबंधचतुष्टय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रम है - प्रयोजन। काव्य प्रयोजन का अर्थ है काव्य रचना से प्राप्त फल। जैसे - धन, यश, आनंद आदि। काव्य प्रयोजन की चर्चा करते समय काव्य हेतु से इसके अंतर की चर्चा की जाती है। भारतीय आचार्यों ने काव्य या साहित्य को सोद्देश्य माना है, अत: भरतमुनि से विश्वनाथ तक काव्य के प्रयोजन पर विचार करने की लंबी परंपरा रही है। इन मतों का ऐतिहासिक क्रम में विवेचन कर हम काव्य के प्रयोजन को स्पष्ट कर सकते हैं।

भरत

इन्होंने सर्वप्रथम नाट्य के माध्यम से काव्य के प्रयोजन का उल्लेख किया है। इनके अनुसार नाटक धर्म, यश एवं आयु का साधक, कल्याणकारण, बुद्धिवर्धक एवं लोकोपदेशक होता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि यह लोकमनोरंजक एवं शोकपीड़ितों को शांति प्रदान करने वाला भी है।

'उत्तमाधममध्यानां नराणांकर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृतिक्रीड़ा सुखादिकृत्
दुद्यःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति' - (नाट्यशास्त्र, 1/113-15)

अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों के कर्म को अच्छे ढंग से आश्रय देने (निरूपित करने) के लिए और हितकारी उपदेश देने के लिए, सुख प्रदान करने वाली यह बुद्धि की क्रीड़ा अर्थात् रचना होगी। दु:ख, श्रम,शोक से आर्त्त और तपस्वियों को विश्राम (मनोरंजन) देने के लिए यह नाटक (काव्य) होगा। धर्म, यश, आयुष्य और हित व बुद्धि को बढ़ाने वाले तथा लोगों को (उचित) उपदेश देने के लिए यह नाटक होगा, यानि कि इसकी रचना होगी। यहां भरत मुनि ने नाटक के बहाने काव्य के आश्रय लोगों से जोड़ कर रचना कर्म के उद्देश्य का निरूपण किया है। नाटक की रचना से केवल रचनाकार को ही श्रेय नहीं

मिलेगा, बल्कि उसके आश्रय सामाजिक लोगों को भी उसका फल मिलेगा। यह नाटक लोगों को धर्म, आयुष्य, हित और बुद्धि को बढ़ाने वाला तो होगा ही, इसके साथ-साथ लोगों को उत्तम, मध्यम और अधम लोगों की पहचान करने में सहायक तथा हितकारी उपदेश देने वाला भी होगा। यह लोगों की शारीरिक पीड़ा (दु:ख) को दूर करने वाला होगा, श्रम (कार्य) से उत्पन्न थकान को दूर करने वाला होगा, शोक (मानसिक विषाद या क्लेश) को दूर करने वाला होगा। इसके अलावा यह यह तपस्वियों को विश्राम (मनोरंजन) देने के लिए भी होगा। यहां पर रचना (काव्य) की उपयोगिता को लोक कल्याण से जोड़ कर देखा गया है। रचना का उद्देश्य इतनी व्यापकता में और वह भी सामाजिक (सहृदय लोगों) की श्रेणियों को बताते हुए अन्य किसी से भरत के पहले या बाद में निरूपित किया, नहीं किया है। रचना व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है और रचना को उद्देश्य केवल निजी लाभ नहीं होना चाहिए, यह मौलिक दृष्टिकोण भरत को कालातीत महत्व प्रदान करता है।

भामह

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्ति प्रीतिं च साधुकाव्य-निबंधनम्' - (काव्यालंकार, 1/2)

आचार्य भामह के अनुसार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में विचक्षणता (अद्भुत निपुणता) पाने के साथ-साथ कीर्ति और लोगों का प्यार (लोकप्रियता) पाने के लिए साधु अर्थात् श्रेष्ठ काव्य की रचना (कवि करता है) होती है। यहाँ पर भामह ने चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति को काव्य रचना का कारण बताकर कवि के लिए अन्य सांसारिक जिम्मेदारियों के निर्वाह को उसी में समाहित कर दिया है। कवि जब तक अन्य कर्त्तव्य और चिन्ताओं में फंसा रहेगा, तब तक वह व्यक्तिगत राग द्वेष के अधीन होकर श्रेष्ठ काव्य की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि रचनाकार को द्रष्टा रूप में ही काव्योचित सत्य की उपलब्धि हो सकती है। ऐसा न रहने पर उसकी रचना में व्यापक लोक सामान्य अनुभव समाहित नहीं हो पाएंगे और वह रचना समाज में क्लेश व विघटन लाने वाली होकर जीवन के संतुलन को भंग करने वाली हो सकती है। धन प्राप्ति के लिए उसे कोई अन्य कर्त्तव्य करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि कलाओं में निपुणता प्राप्त करने पर वह कहीं पर भी जीविका उपलब्ध कर लेगा। यश और लोकप्रियता हासिल करने पर उसकी भौतिक जरूरतें अपने आप पूरी हो जाएंगी।

श्रेष्ठ काव्य की रचना से सारे अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है, ऐसा भामह का मानना है।

वामन

इनके अनुसार काव्य के मुख्यत: दो प्रयोजन हैं – दृष्ट एवं अदृष्ट। दृष्ट प्रयोजन का संबंध प्रीति से है तो अदृष्ट का संबंध कीर्ति से। प्रीति के द्वारा लौकिक फल की तो कीर्ति द्वारा अलौकिक फल की प्राप्ति होती है।

'काव्यं सत् दृष्टादृष्टार्थ प्रीतिकीर्त्तिहेतुत्वात्।
काव्यं सत् चारु, दृष्टप्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात्।
अदृष्ट प्रयोजनं कीर्त्तिहेतुत्वात्।' (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1/1/5)

यहां पर दृष्ट व अदृष्ट तथा दोनों के साथ चारू का विशेषण रूप में प्रयोग व्याख्या की अपेक्षा रखता है। दृष्ट अर्थात् जो दिखाई दे, जिसे वामन ने प्रीति के साथ जोड़ कर रखा है। प्रीति का मतलब है कि सहज प्रेम या स्वाभाविक प्रवृत्ति। जैसे–अर्थ और काम में मनुष्य की स्वाभाविक रूचि और उसे पाने की इच्छा होती है, लेकिन इनको पाने के लिए अनुचित व अमर्यादित रास्ता अपनाना गलत होगा। इसलिए चारू विशेषण के द्वारा समाज व परम्पराओं द्वारा मान्यता प्राप्त मार्ग के रूप में काव्य की रचना का विधान किया गया है। केवल रचना द्वारा ही नहीं उनके पाठ व गान द्वारा भी प्रीति की प्राप्ति होती है। जैसे–सूत, मागध एवं बन्दी जनों द्वारा श्रेष्ठ काव्य का गायन करने पर अर्थ की उपलब्धि होती है। मनुष्य की मूल प्रवृत्ति के रूप में काम भावना का परिष्कार श्रेष्ठ काव्य के पढ़ने सुनने से होता है। उसके भीतर अवांछनीय भोग लालसा का शमन होता है। ऐसे ही कीर्ति को चारूत्व के साथ जोड़ने का भी विशेष अभिप्राय है। काव्य रचना की शक्ति की दुर्लभता की बात काव्य हेतु के अन्तर्गत पूर्व आचार्यों ने की थी। इस शक्ति के दुरूपयोग के प्रति भी वे सजग थे। वामन ने यहाँ उसी ओर संकेत किया है। कीर्ति हासिल करने के प्रमुख उपाय के रूप में दो पुरुषार्थ का विवेचन संस्कृत साहित्य में मिलता है। धर्म और मोक्ष। धर्म कार्य के सम्पादन से यश मिलता है, लेकिन केवल यश के लिए किया जाने वाला धर्म का अनुष्ठान दम्भ व पाखण्ड का पोषक होता है। इसी तरह मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ है ज्ञान की प्राप्ति। यहीं पर चारूत्व द्वारा कीर्ति पाने के उपाय रूप में काव्य को माध्यम बनाने के लिए सावधानी बरतने की जरूरत पर वामन बल देते हैं। गलत तरीके से यश पाने के लिए कवित्व शक्ति का दुरूपयोग कोई न करे, जिससे

सामाजिक व्यवस्था भंग हो, इसकी चिन्ता वामन को है। पुरुषार्थ सिद्धि का सम्बन्ध एषणात्रय की पूर्ति से जुड़ा हुआ है, जिसका संबंध मनुष्य के भीतर तीन मूल इच्छाओं से है – पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। पुत्रैषणा यानि कि पुत्र या संतान की इच्छा या काम सुख की इच्छा। वित्तैषणा यानि कि धन की इच्छा। लोकैषणा यानी यश या कीर्ति की इच्छा। इन्हीं तीन मूल इच्छाओं की सही तरीके से पूर्ति के लिए चार पुरूषार्थों की अवधारणा का विकास हुआ। आचार्य वामन के समय लोकभाषा कवि और संस्कृत भाषा के कवियों द्वारा कवित्व शक्ति का दुरूपयोग किया जा रहा था। काव्य दोष की विस्तृत अवधारणा का आधार यही कवित्व शक्ति का गलत तरीके से अपने निजी स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करने से उत्पन्न अव्यवस्था थी। वामन ने एक आचार संहिता और नैतिकता के निर्माण की कोशिश में अपने काव्य प्रयोजन को विकसित किया है।

रुद्रट

भामह के काव्य-प्रयोजन का विस्तार करते हुए रुद्रट मानते हैं कि काव्य का प्रयोजन चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की फल-प्राप्ति के अतिरिक्त अनर्थ का शमन, विपत्ति का निवारण, रोगविमुक्ति तथा अभीष्ट वर की प्राप्ति है।

'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघुमृदुनीरसेभ्यस्ते हि त्रयस्संति शास्त्रेभ्यः।
अर्थमनर्थोपशमं शमसममथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः।
नृत्वा यथा हि दुर्गा केचित्तीर्णा दुस्तरां विपदम्।
अपरे रोगविमुक्तिं वरमन्ये लेभिरे *भिमत्म्' (काव्यालंकार, 12/1, 1/8, 9)

रुद्रट का काव्य प्रयोजन कवि की जरूरतों से अधिक जुड़ा हुआ है। काव्य द्वारा चतुर्वर्ग अर्थात् चारों पुरुषार्थों में सरस अवगमन या उनकी प्राप्ति होती है। शास्त्र द्वारा निर्मित विधानों को भी सुबोध शैली में काव्य प्रस्तुत करता है। पाठकों और कवि दोनों के लिए अनर्थ का नाश, शांति की उपलब्धि,विपत्ति से छुटकारा, रोग का नाश और अभिलषित वर की प्राप्ति या इच्छा पूर्ति में सहायक काव्य की रचना कवि की समस्त भौतिक बाधाओं को दूर करने का माध्यम है। लोक और राजसभा, दोनों जगह कवि के अभीष्ट की सिद्धि में काव्य रचना समर्थ है।

रूद्रट का काव्य प्रयोजन इस मायने में विशिष्ट है कि वह अनर्थ, विपत्ति के विविध रूपों के निवारण में समर्थ काव्य के अलौकिक महत्व की प्रतिष्ठा करता है। यह तन्त्र और आगम ग्रंथों की रचना का काल भी है। कवित्व शक्ति द्वारा नये-नये मंत्र शास्त्रों व संहिताओं का निर्माण उस समय हो रहा था, इसकी जानकारी यहाँ मिलती है।

कुंतक

इन्होंने काव्य के मुख्यतः तीन प्रयोजनों का उल्लेख किया है - (1) चतुर्वर्ग की प्राप्ति की शिक्षा (2) व्यवहार आदि के सुंदर रूप की प्राप्ति तथा (3) लोकोत्तर आनंद की उपलब्धि।

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबंधो *भिजातानां हृदयाह्लादकारकः।
व्यवहार परिस्पंद सौंदर्य व्यवहारिभिः।
सत्कावयाधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।
चतुर्वर्गफलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
कायामृतरसेनांतश्चमत्कारो वितन्यते। - (वक्रोक्तिजीवितम्, 1/3, 4, 5)

काव्य धर्मादि का साधन और उपाय है। साधन कवियों के लिए और उपाय पाठकों के लिए। काव्य को पढ़ना भी धर्म माना जाता है। स्वाध्याय को संस्कृत साहित्य में यज्ञ और तपस्या का दर्जा दिया गया है। यह अपनी सुकुमारता या सरसता से लोगों को तुरंत यह बोध कराता है कि कैसे धर्म व अन्य पुरुषार्थों का सम्पादन किया जा सकता है। अभिजात अर्थात् सुरुचि सम्पन्न और परिष्कृत विचारों वाले लोगों के हृदय को आह्लाद यानि कि प्रेम जनित आनंद प्रदान करता है। व्यवहार में सौन्दर्य की वृद्धि करता है। कवित्व शक्ति सम्पन्न लोगों को विशेष सम्मान तो मिलता ही है, जो उनको धारण करते हैं, उनको भी विशेष रूप में व्यवहार करने का ज्ञान मिलता है। चतुर्वर्ग के फल द्वारा प्राप्त स्वाद या आनंद का अतिक्रमण करके काव्य रूपी अमृत से विद्वानों के उत्तम आनंद चमत्कार को बढ़ाने वाला यह काव्य होता है। इसका तात्पर्य यह है काव्य का चमत्कार ही यही है कि उसकी रचना के साथ पुरूषार्थों की सिद्धि अलग से करने की जरूरत नहीं पड़ती है। विद्वानों के लिए काव्य रचना ही साध्य व साधन दोनों हैं।

मम्मट

काव्य प्रयोजन के संबंध में अपने पूर्ववर्ती मतों का समाहार करते हुए मम्मट कहते हैं कि –

'काव्यं यशसे*र्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कांतसम्मिततयोपदेशयुजे।' – (काव्यप्रकाश, 1/2)

काव्य रचना का कारण व्यावहारिकता के धरातल पर अधिक व्यापक रूप में (उपयोगिता की नजर से) पेश करते हुए मम्मट मानते हैं कि काव्य से यश, धन, व्यवहार ज्ञान, अमंगल का नाश, तुरंत आनंद की प्राप्ति और कांता (प्रेमी, प्रेयसी) की तरह उपदेश मिलता है। कविता रचने पर कालिदास, भारवि, माघ की तरह उत्तम यश मिलता है। धावक कवि की तरह या बिहारी की भांति धन की प्राप्ति होती है। महाभारत, पंचतंत्र हितोपदेश आदि काव्यों से लोकव्यवहार की जानकारी होती है। काव्य से अमंगल का नाश (रोग, व्याधि या शाप) होता है। जैसे– मयूरभट्ट ने सूर्य शतक द्वारा और महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य की रचना द्वारा कुष्ठ रोग से मुक्ति पायी थी। किंवदंती है कि गोस्वामी तुलसीदास ने हनुमान बाहुक द्वारा शारीरिक पीड़ा से राहत प्राप्त की थी। पुष्पदंत ने शिवमहिम्न स्तोत्र द्वारा शाप से मुक्ति हासिल की थी। स्तोत्र साहित्य (शंकराचार्य आदि का) या भक्ति साहित्य, रामायण या रामचरितमानस की तरह रचना या पाठ से तुरंत आनंद या मुक्ति मिलती है। कांता (प्रेयसी) की तरह उपदेश द्वारा जीवन के कठिन समय में उचित परामर्श या मार्गदर्शन भी काव्य से प्राप्त होता है। जैसे–रामायण, महाभारत आदि आर्ष काव्यों द्वारा। तीन प्रकार के उपदेश बताए जाते हैं – प्रभु सम्मित, सुहृद सम्मित और कांता सम्मित। प्रभु सम्मित वाक्य का अर्थ है, जो आदेशात्मक रूप में होते हैं अर्थात् जिनको करना या नहीं करना निश्चित होता है। वेदों, स्मृतियों के वचन प्रभु सम्मित वाक्य के अन्तर्गत आते हैं। सुहृद सम्मित वाक्य में मित्र की तरह कल्याणकारी उपदेश और जीवनोपयोगी चर्चा आती है। जैसे–पुराण इतिहास आदि के सन्दर्भ। कांता सम्मित वाक्य वहाँ होते हैं, जहाँ प्रेयसी की तरह कल्याणकारी मधुर वचन द्वारा किसी को वास्तविक कर्त्तव्य या कल्याण का बोध कराया जाता है। सुहृद सम्मित वचन में उदाहरण द्वारा यह बताया जाता है कि उसने ऐसा किया और उसे ऐसी गति प्राप्त हुई इसलिए जो करना हो करो। यहाँ थोड़ी उपेक्षा का भाव भी रहता है, लेकिन कांतासम्मित वाक्य में प्रेमिका की तरह मान–मनुहार और हर तरह से आत्मीयता द्वारा मधुर वचनों में उपदेश दिया जाता है। काव्य इसीलिए वेदों, पुराणों

या इतिहास से अलग होता है, क्योंकि उसमें चारूत्व (सौन्दर्य) पर आधारित शब्दार्थ प्रधान होता है। मम्मट की यह परिभाषा कवि और पाठक दोनों की जरूरतों में आवश्यक तालमेल बैठाने तथा कविता द्वारा दोनों की जरूरतें पूरी होने के सामंजस्यवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। भरत मुनि के यहाँ सामाजिक का महत्व अधिक और कवि की जरूरतों की उपेक्षा दिखाई देती है तो भामह आदि आचार्य कवि की आवश्यकता को मुख्यत: ध्यान में रखते हैं। मम्मट के यहाँ कवि और सामाजिक (पाठक) दोनों के हितों व जरूरतों का उचित अनुपात में ध्यान रखा गया है।

विश्वनाथ

मम्मट के पश्चात काव्य के प्रयोजन पर विचार में नवीनता का अभाव मिलता है। बाद के आचार्यों ने केवल मम्मट के ही विचारों को व्याख्यायित किया है। विश्वनाथ ने काव्य के प्रयोजन के तहत चतुर्वर्ग की प्राप्ति को महत्व दिया है। इनके अनुसार शास्त्र का भी यही प्रयोजन है, किन्तु शास्त्र का अनुशीलन कष्टसाध्य है और सबको सुलभ नहीं है। काव्य के अध्ययन से जनसामान्य को भी चतुर्वर्ग की प्राप्ति संभव है। 'चतुर्वर्गफलप्राप्ति: सुखादल्पधियामपि।' - (साहित्यदर्पण, 1/2) कहना न होगा कि विश्वनाथ की चतुर्वर्ग की प्राप्ति के उद्देश्य से काव्य सृजन की बात मम्मट के कांता सम्मित उपदेश का ही विस्तार है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त आचार्यों के मत का अध्ययन करते हुए हम कह सकते हैं काव्य की रचना किंचित उद्देश्य को ध्यान में रखकर की जाती है। काव्य के द्वारा कवि जीवन का परिष्कार करता है। भारतीय साहित्य का प्रधान लक्ष्य रस का उद्रेक होते हुए भी प्रकारांतर से जीवनमूल्यों का उत्थान एवं सामाजिक कल्याण है। भारतीय परंपरा में काव्य या साहित्य 'सत्यं शिवं सुंदरं' का सच्चा वाहक है। सत्य (यथार्थ) और शिव (कल्याणकारी) हुए बिना किसी भी कृति का सुंदर होना असंभव है। कदाचित इसीलिए हिंदी आलोचना ने भी लोकमंगल एवं जनपक्षधरता को साहित्य का वांछित प्रयोजन स्वीकार किया है। भारतीय संस्कृत आचार्यों की दृष्टि सदैव इस बात पर रही कि कवित्व शक्ति एक दुर्लभ व श्रेष्ठ प्रतिभा है। इसका दुरूपयोग करने के लिए न तो कोई मजबूर हो और न तो खुद से करना

चाहे। जैसे–कालिदास द्वारा रचित कुमारसम्भवम् से उनको कुष्ठ रोग होना बताया जाता है तो इसका यही कारण है कि वे अपनी प्रतिभा को गलत तरीके से काव्य में नियोजित करते हैं। फिर रघुवंश महाकाव्य द्वारा उस रोग से मुक्ति हासिल करते हैं। काव्य रचना स्वयमेव एक उत्तम पुरुषार्थ है। लोकहित और लोकरंजन के लिए अपने को समर्पित करने वाले व्यक्ति को न तो अलग से किसी पुरुषार्थ सिद्धयुपाय करने की जरूरत है और न ही उसे स्वयं चिन्तित होना चाहिए। काव्य रचना को हमारे यहाँ साधना का दर्जा दिया गया है। इसलिए इसकी रचना से निर्माता और पाठक दोनों का हित पोषण प्राप्त करता है। अवांछनीय तरीके से इसका दुरूपयोग करने से उत्पन्न अव्यवस्था के प्रति सचेत रहते हुए आचार्यों द्वारा मूलतः यह स्थापित किया गया है कि काव्य रचना का प्रयोजन उदात्त होना चाहिए, क्योंकि यह अपने प्रभाव में लोक को व्याप्त करके उसे सुव्यवस्थित या पथभ्रष्ट करने की संभावनाओं से लैस है। काव्य लोक का पथप्रदर्शक बने और शांति व सुव्यवस्था लाने का माध्यम बने, कवि की दुर्लभ प्रतिभा समाज के लिए उपयोगी हो, इसकी चिन्ता व निर्देश के रूप में काव्य प्रयोजन की अवधारणाओं का विकास हुआ है।

भारतीय काव्यशास्त्र/काव्य गुण

काव्य गुण

शब्दकोश में गुण का अर्थ उन्नततः विशेषता, आकर्षण अथवा शोभाकारी धर्म दोषाभाव आदि। काव्य क्षेत्र में इनका उपयोग दोषाभाव एवं काव्य के शोभावर्धक धर्म दो अर्थों में किया जाता है। काव्य के दो गुण हैं- (1) विधायक तत्त्व (2) विधातक। ऐसे तत्त्व जो काव्य के विधान में उसके परिपोषक में सहायक होते हैं, उसे काव्य गुण कहते हैं गुणों का वर्णन सभी आचार्यों ने किया है। इसकी परम्परा भी काव्य शास्त्र के इतिहास से ही संबंधित है। आचार्य भरतमुनि ने दोष विर्पय को गुण कहकर अभिहित किया है। विषर्यस्तोः गुणाः काव्येषु कीर्तिताः। इन्होंने 10 गुण माने हैं। आचार्य वामन गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म के रूप में स्वीकार किया है, इनके अनुसार गुणों की संख्या 20 है। उनका मत भेदवादी है और वे गुण और अलंकार में भेद मानते हैं- काव्य शोभायाः कर्त्रारों धर्माः गुणाः। भरतमुनि ने गुणों को अभावत्मक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया और दण्डी ने स्पष्टतः उन्हें भावात्मक रूप में, वामन भी ऐसा

ही स्वीकार करते हैं, वे गुणों को काव्य का शोभाकारी धर्म मानते हैं, गुण को प्रथमता: प्रतिष्ठा प्रदान करने वाले आचार्य वामन ही है। गुणों की संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। आनन्दवर्धन ने गुणों के स्वरूप में नितान्त परिवर्तन कर दिया, तथा गुणों की संख्या भी दस के स्थान पर तीन मानी- (1) माधुर्य (2) ओज (3) प्रसाद।

माधुर्य गुण

चित्त का द्रुति-रूप आह्लाद, जिसमें अन्त:करण द्रवित हो जाए ऐसा आनन्द-विशेष, माधुर्य गुण कहलाता है। यह गुण संयोग, श्रृंगार, करूण, विप्रलम्भ श्रृंगार और शांत रसों में क्रम से बढ़ा हुआ रहता है। इस गुण के व्यजंक वर्ण ट, ठ, ड को छोड़कर क से म एक वर्णों की प्रधानता होती है। इस गुण में समास का सर्वथा अभाव होता है, या छोटा समास होता है। रचना मधुर होती है। उदाहरण-

निरख सखी ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मन भाये॥

प्रसाद गुण

प्रसाद गुण के व्यंजक ऐसे सरल और सुबोध पद होते हैं, जिनके सुनते ही इनके अर्थ की प्रतिति हो जाए। अर्थात् वह रचना प्रसाद गुण सम्पन्न कहाती हैं, जो सामाजिक के हृदय में ठीक उसी प्रकार तुरन्त व्याप्त हो जाती है, जैसे- सूखे ईंधन में अग्नि झट व्याप्त हो जाती है, अथवा जैसे-जल स्वच्छ वस्त्र में तुरन्त व्याप्त हो जाता है। प्रसाद गुण के व्यंजक ऐसे सरल और सुबोध पद होते हैं। जिनके सुनते ही इनके अर्थ की प्रतीति हो जाए। यह गुण सभी रसों में और सभी प्रकार के रचनाओं में रह सकता है।

उदाहरण-

वह आता।

दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।

ओज गुण

चित्त का विस्तार-स्वरूप दीप्तत्त्व ओज कहलाता है। वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में क्रम से इस गुण की अधिकता रहती है। इसमें विशेषकर ट, ठ, ड,

ढ़ व्यजंन वर्णों की प्रधानता होती है। इस गुण में लम्बे-लम्बे समास होते हैं और रचना उध्दात होती है। उदाहरण-

मुण्ड कटत कहूं रूण्ड नटत कहूं सुण्ड पटत घन।
गिध्द लसत कहुं सिध्द हसत सुख वृध्दि रसत मन॥

संदर्भ

1. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र–डॉ. सत्यदेव चौधरी, डॉ. शन्तिस्वरूप गुप्त। अशोक प्रकाशन, नवीन संस्करण-2018, पृष्ठ--122, 123

भारतीय काव्यशास्त्र/काव्य दोष

काव्य दोष

यदि उत्तम काव्य के लिए गुणों का आवश्यक है तो वहां दोषाभाव का होना भी आवश्यक है। इसलिए संस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने दोषों के अभाव को गुण माना है। दण्डी के अनुसार- महान् निदोषिता गुणा। आचार्य भरतमुनि गुण को दोष का उल्टा मानते हैं- विपर्यस्तो गुणा: काव्येषु कीर्तिता:। भरतमुनि की यह मान्यता चीरकाल तक मान्य रही, परिणामस्वरूप दण्डी तक में दोष का कोई स्पष्ट लक्षण देखने को नहीं मिलता है। प्राय: सभी आचार्य दोषों के अभाव को उत्तम काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं। इसलिए भामह को काव्य में एक भी सदोष पद स्वीकार नहीं हैं-

सर्वथा पदमप्येकं न निगाधवधयत।
विलक्षमणा हि काव्येन दुरूसतनेव निन्धते॥

आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थ के अपकर्ष को दोष कहा है। उदेश्य की प्रतीति का विघात होना ही मुख्यार्थ का अपकर्ष है। मुख्यार्थ का आशय है रस, अत: रस का अपकर्ष ही काव्य दोष है। यह काव्य प्रकाशनि में कहा गया है- मुख्यार्थहतिदोषोरसश्य मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्य:। हिन्दी साहित्य के आचार्य मम्मट आदि के आधार पर ही काव्य दोषों का विवेचन किया है। केशवदास कविप्रिया में कहते हैं- दूषण सहित कवित्त से बचना चाहिए। चीन्तामणि कविकुलकलपत: में शब्द और रस के विधातक तत्त्वों को दोष कहते हैं-

शब्द अर्थ रस को जु इत देखि परै अपकर्ष।
दीन कहत है ताकि कौ सुनै घटटु है हर्ष॥

कुलपति मिश्र के अनुसार रस निष्पति का बाधक तत्त्व ही दोष है-

शब्द अर्थ को प्रकट है रस समुझन नहीं देय।
सो दूषण तन-मन विथा जो को हरि लेय॥

उपयुक्त विवेचन के तर्ज पर हम कह सकते हैं कि हिन्दी के आचार्यों की दोष विषयक मन्यता संस्कृति काव्यशास्त्रों उपजीवि हैं। इन हिन्दी के आचार्यों ने मुख्यात् के बाधक तत्त्वों के रूप में काव्य दोषों को स्वीकार किया है।

दोष- भेदों की संख्या भरत के समय में केवल दस थी और मम्मट तक पहुंचते-पहुंचते यह संख्या सत्तर तक पहुंच गयी। इन दोनों आचार्यों के बीच भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, महिमभट्ट और भोजराज ने विभिन्न दोषों का निरूपण किया। इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, शब्द दोष, अर्थ दोष और रस दोष।

शब्द दोष

शब्द दोष के अन्तर्गत पद, शब्द वाक्य, दोष आते हैं। इसके अन्तर्गत श्रुतिकटुत्व, च्युतसंस्कृति, असलिलितत्त्व, क्लिष्टता आदि आते हैं।

श्रुतिकटुत्व काव्य में कानों को अप्रिय लगने वाले तथा कठोर शब्द की रचना श्रुतिकटुत्व कहलाती है। जैसे- सिद्ध्यर्थ गए सिध्दार्थकुमार। इसमें सिध्दान्त में श्रुतिकटुत्व हैं, जिसमें मुख्यार्थ बाधित होता है।

च्युतसंस्कृति च्युतसंस्कृति अर्थात् संस्कृति से चुक जाना अर्थात् जहां किसी पद का प्रयोग व्याकरण के प्रतिकुल होना। जैसे- इस निरशता को छोड़ो, आशा से काम लो। यहां निराशा के स्थान पर निरशता का प्रयोग, व्याकरण की दृष्टि से अशुध्द है।

क्लिष्टता जहां पर ऐसे शब्दों का प्रयोग हो, जिसका अर्थ बड़ी कठिनाई से प्रतीत हो, वहां क्लिष्टतत्त्व दोष होता है। जैसे- अहि-रीपु- पति-तीय-सदन है। मूख्य तैरो रमनिय॥ यहां अहि- रीपु, पति, तीय, सदन का अर्थ है, कमल जो बड़ी कठिनाई से जाना जाता है। अतः क्लिष्टतत्त्व दोष है।

अर्थ दोष

अर्थ दोष के अन्तर्गत ग्रामयत्व, दुष्क्रम, पुनःक्ति आदि दोष आते हैं।

ग्रामतत्त्व साहित्यिक रचना में ग्रामिण बोलचाल की शब्दों का प्रयोग होने पर ग्रामतत्त्व दोष हो जाता है। जैसे- मुड़ पर मुकुट धरे शोहत गोपाल है। यहां

पर मुड़ शब्द में ग्रामतत्त्व दोष है, क्योंकि मुड़ शब्द ग्राम में सिर के लिए प्रयोग होता है। दुष्क्रम जहां पर शास्त्र अथवा लोक के विरूध्द क्रम होता है। वहां पर दुष्क्रमतत्त्व दोष होता है। जैसे- नृप! मोकों हय दीजिए अथवा मत्त गजेन्द्र। किन्तु लोक में क्रम यों होता है कि पहले हाथी मांगना, न मिलने पर, फिर घोड़ा मांगना चाहिए।

पुन:क्ति जहां एक शब्द यह वाक्य द्वारा किसी अर्थ विशेष की प्रतीति हो जाने के बाद भी उसी अर्थ वाले शब्द या वाक्य का दोबारा प्रयोग किया जाये वहां पुन:क्ति दोष होता है। जैसे- सब कोउ जानत तुम्हें सारे जगत जहान। यहां पर जहान शब्द संसार के अर्थ में दोबारा प्रयोग किया गया है। अत: पुनुरूक्ति दोष है।

शब्द और अर्थ दोष अनित होता है। जबकि रस दोष नित होता है। जैसे- प्रेमास्या में ज्ञानशंकर के बर्बर चरित्र के सामने प्रेम शंकर की उपेक्षा करना रस दोष के अन्तर्गत आता है।

भारतीय काव्यशास्त्र/शब्द शक्तियाँ

भारतीय काव्यशास्त्र

शब्द तथा अर्थ के संबंध को शक्ति या शब्दशक्ति कहते हैं। इसको व्यापार भी कहा गया है। शब्द में निहित अर्थ-संपत्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व शब्दव्यापार या शब्दशक्ति है। शब्दशक्तियाँ साधन के रूप में समादृत हैं। शब्द कारण है और अर्थ कार्य और शब्दशक्तियाँ साधन या व्यापार-रूप हैं। शब्दशक्ति के बिना शब्द के अर्थ का ज्ञान संभव नहीं है। शब्द तथा अर्थ के संबंध में विचार करनेवाले तत्त्व को शब्दशक्ति कहते हैं। शब्द की तीन शक्तियाँ हैं - अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। शब्द तीन प्रकार के होते हैं - वाचक, लक्षक और व्यंजक तथा इनसे क्रमश: तीन प्रकार के अर्थ प्रकट होते हैं - वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ। इन तीनों अर्थों की प्रतीति तीन प्रकार की शक्तियों - अभिधा, लक्षणा और व्यंजना द्वारा होती है।

अभिधा

अभिधा को परिभाषित करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं- 'तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा' अर्थात् उनमें (वाक्य में) संकेतित यानि कि

मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति या शक्ति को अभिधा कहते हैं। चार प्रकार के शब्द होते हैं- जातिवाचक, गुणवाचक,द्रव्यवाचक और क्रियावाचक। इन शब्दों के अर्थ का बोध कराने में जहां किसी अन्य दूसरी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती, वहाँ मुख्य अर्थ का व्यवधान रहित बोध कराने वाली शब्द की शक्ति अभिधा कहलाती है। जैसे अश्व, क्रीड़ा, मुख आदि।

अभिधा के भेद

अभिधा के निम्न तीन भेद है-

रूढ़ि

वे शब्द जिनका अर्थ तय हो, उनमे बदलाव नहीं हो सकते, उन्हें रूढ़ि कहते हैं। जैसेः- रोटी, कलम, पेड़ आदि

योग

दो शब्दों के जोड़ से प्राप्त एक नये अर्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द को योग कहते हैं। इसमें दोनों शब्दों को अलग-अलग करने पर उनका एक स्वतंत्र अर्थ भी होता है। जैसेः- बैलगाड़ी, मालगाड़ी आदि।

योगरूढ़ि

वे योग शब्द जो समाज में अब एक विशेष अर्थ के लिए रूढ़ हो गये हैं अर्थात उनका कोई भिन्न अर्थ हो भी फिर भी उन सबसे एक अर्थ विशेष की प्रतीति होती है। जैसेः- मुरलीधर, मधुसूदन, गोपाल आदि। यहाँ गोपाल 'गो' तथा 'पाल' के योग से निर्मित है, जिसका अर्थ है गाय पालने वाला पर इसका अर्थ कृष्ण के लिए रूढ़ हो गया है।

लक्षणा

'मुख्यार्थ बाधे तद्युक्तो ययान्योर्थः प्रीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिर्पिता॥'

(साहित्य दर्पण- 2.5)

अर्थात् अभिधा शक्ति से निरूपित मुख्य अर्थ को बाधित करके रूढ़ि(प्रसिद्धि) या प्रयोजन (उद्देश्य) के कारण जिस वृत्ति या शक्ति से अन्य

अर्थ की प्रतीति होती है, शब्द के अर्थ का बोध कराने वाली उस शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं। जैसे–कुशल अर्थात् कुश को लाने वाला। लेकिन यहाँ पर कुशल का अर्थ कार्य में दक्षता प्राप्त व्यक्ति से है। वैसे ही 'कलिंग साहसिक होता है।' यहाँ कलिंग से देश का अर्थ न लेकर कलिंग का निवासी कहना अभिप्रेत है।

लक्षणा के भेद

लक्षणा के दो भेद हैं- (1) प्रयोजनवती (2) रूढ़ा प्रयोजनवती के दो भेद गौणी और शुद्धा है। गौणी और शुद्धा के दो-दो भेद हैं उपादान और लक्षण। उपादान और लक्षण के भी दो-दो भेद हैं, सारोपा और साध्यवसाना।

रूढ़ा

रूढ़ि कहते हैं प्रयोग-प्रसिद्धि को, अर्थात् वैसा बोलने का प्रचलन है, तरीका है। उदाहरणार्थ– 'नौ दो ग्यारह होना'। इसके अंतर्गत सभी मुहावरे आदि आते हैं।

प्रयोजनवती

जब मन में कोई ऐसा अभिप्राय हो, जो प्रयुक्त शब्द से व्यक्त ना हो तो प्रयोजनवती का प्रयोग होता है। जैसे:– नौकर बैल है।

गौणी

जहाँ सादृश्य संबंध होता है, वहाँ गौणी लक्षणा होता है। जैसे:– मुख चंद्र है, अर्थात् चंद्र के समान मुख में भी चमक है। विषय और विषयी में सादृश्य संबंध है।

शुद्धा

जहाँ विषय और विषयी में सादृश्येतर संबंध होता है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होता है। जैसे:– चाँद निकला। अब यहाँ हमें विषय और विषयी का संबंध दिख नहीं रहा है।

उपादान

जहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों रहते हैं, वहां उपादान लक्षणा होती है। जैसे:– लालपगड़ी कहने पर मुख्य अर्थ के साथ सिद्धि पूर्ति के लिए लक्ष्यार्थ 'पुलिस वाले' का भी बोध हो रहा है।

लक्षण

जहाँ मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ के कारण तिरस्कृत हो जाता है, वहां लक्षण लक्षणा होता है। जैसे:– कुशल का अर्थ कुश को लाने वाला होता है, किन्तु इसका यह अर्थ प्राय: ग्रहण नहीं किया जाता।

सारोपा

जहाँ विषय और विषयी अर्थात् उपमेय और उपमान का संबंध दिखे वहाँ सारोपा लक्षणा होता है। जैसे:– चरण कमल है।

साध्यवसाना

यदि विषय और विषयी में विषय को छोड़ केवल विषयी का नाम ले तो वहीँ साध्यवसाना होता है। जैसे:– दीपक जला।

व्यंजना

अभिधा और लक्षणा की सीमा के बाहर पड़ने वाले अर्थ को जो शक्ति व्यक्त करती है, उसे व्यंजना कहते हैं।

व्यंजना के भेद

व्यंजना के दो भेद हैं-- शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं अभिधामूलक व्यंजना और लक्षणामूलक व्यंजना।

शाब्दी व्यंजना

जहाँ शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, वहां शाब्दी व्यंजना होता है। जैसे:– ऊधो तुम अपनो जतन करो, आयों घोष बड़ो व्यापारी।

आर्थी व्यंजना

जहाँ अर्थ से व्यंग्य की प्रतीति होती है, वहाँ आर्थी व्यंजना। जैसे:– कागज की आजादी मिलती ले लो दो-दो आने में।

अभिधामूलक व्यंजना

जिसमें वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ तक पहुँचाता है। वहां अभिधामूलक व्यंजना होता है। जैसे:– मैं द्रोणाचार्य हो कर भील शिष्य रखु। यहाँ द्रोणाचार्य व्यंग्यार्थ में स्वयं को श्रेष्ट कह रहे हैं।

लक्षणामूलक व्यंजना

जहाँ लक्षणा से व्यंग्यार्थ का प्रतीति हो, वहाँ लक्षणामूलक व्यंजना होती है। जैसे:– वियोग में नायिका हवा में उड़ने लगी। यहाँ नायिका सच में हवा में नहीं उड़ रही, अपितु उसके वियोग के हाल का वर्णन मिलता है।

3

भारतीय काव्यशास्त्र

भारतीय काव्यशास्त्र के बारे में कुछ विशेष जानकारी जो हमेशा ही प्रासंगिक है। इसीलिए आप सबके साथ साझा कर रही हैं। यह उन लोगों के बारे में है, जो काव्यशास्त्र के स्तंभ माने जा सकते हैं। इसीलिए यह जानकारी सभी के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

प्रमुख काव्यशास्त्री

संस्कृत काव्यशास्त्र की जो परंपरा भरतमुनि से शुरू होती है, वह आचार्य पंडितराज जगन्नाथ तक चलती है। लगभग डेढ़-दो सहस्रा वर्षो का यह शास्त्रीय साहित्य अपनी व्यापक विषय- सामग्री, अपूर्व एवं तर्क-सम्मत विवेचन-पद्दति और अधिकांशतः प्रौढ़ एवं गंभीर शैली के कारण, तथा विशेषतः नूतन मान्यताओं के प्रस्तुत करने के बल पर भारतीय वांग्मय में अपना विशिष्ट स्थान रचता है।

कतिपय प्रख्यात एवं उत्पादक आचार्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

1. भरत मुनि–भरत मुनि की ख्याति नाट्यशास्त्र के प्रणेता के रूप में है, पर उनके जीवन और व्यक्तित्त्व के विषय में इतिहास अभी तक मौन है। इस संबंध में विद्वानों का एक मत यह भी है कि भरतमुनि वस्तुतः एक काल्पनिक मुनि का नाम है। इन कतिपय मतों को छोड़ दें तो भरत मुनि को संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य माना जाता है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इनका समय द्वितीय शताब्दी माना है। भरत मुनि की प्रसिद्ध रचना नाट्यशास्त्र है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र को 'पंचमवेद' भी कहा है। नाट्यशास्त्र में 36 अध्याय तथा लगभग पाँच हजार श्लोक हैं।

नाट्यशास्त्र नाट्यविधियों का अमर विश्वकोश है।नाटक की उत्पत्ति, नाट्यशाला, विभिन्न प्रकार के अभिनय, नाटकीय सन्धियाँ, वृत्तियाँ, संगीतशास्त्रीय सिद्धांत आदि इसके प्रमुख विषय हैं। इसके अतिरिक्त 6ठे, 7वें और 17वें अध्यायों में काव्यशास्त्रीय अंगों- रस, गुण, दोष, अलंकार तथा छंद कवि निरूपण हुआ है। नायक-नायिका-भेद का भी इस ग्रंथ में निरूपण हुआ है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में दस गुण, दस दोष तथा चार अलंकार(यमक उपमा रुपक तथा दीपक) की मीमांसा की है। भरतमुनि ने रस की संख्या आठ मानी है।

2. भामह–आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भामह का समय षष्ठ शती का पूर्वार्ध निश्चित किया है। भामह कश्मीर के निवासी थे तथा इनके पिता का नाम रक्रिल गोमी था। सर्वप्रथम भामह ने ही अलंकार को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर एक स्वतंत्र शास्त्र या संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। भामह के प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' है। इसका अन्य नाम भामहालंकार भी है। इस ग्रंथ में 6परिच्छेद हैं तथा कुल 400 श्लोक है।

भामा अलंकारवाद के समर्थक थे। इन्होंने 'वक्रोक्ति' को सब अलंकारों का मूल माना है। काव्य का लक्षण सर्वप्रथम इन्होंने प्रस्तुत किया है। दस के स्थान पर तीन काव्य गुणों की स्वीकृति भी इन्हीं इन्हीं सर्वप्रथम की है।

भामा के प्रमुख काव्य सिद्धांत निम्नलिखित हैं:-

(1) शब्द तथा अर्थ दोनों का काव्य होना (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्)।
(2) भरत मुनि द्वारा वर्णित दस गुणों के स्थान पर तीन गुणों (माधुर्य, ओज तथा प्रसाद) का वर्णन।
(3) 'वक्रोक्ति' को सभी अलंकारों का प्राण मानना।
(4) दस विध काव्य दोषों का विवेचन।
(5) 'रीति' को न मानकर काव्य गुणों का विवेचन।

3. दण्डी–आचार्य दण्डी का समय सप्तम शती स्वीकार किया गया है। यह दक्षिण भारत के निवासी थे। दण्डी पल्लव नरेश सिंह विष्णु के सभा पंडित थे। दंडी अलंकार संप्रदाय से सम्बद्ध है तथा इनके तीन ग्रंथ उपलब्ध होते हैं 'काव्यदर्श', 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरी कथा'। प्रथम ग्रंथ

काव्यशास्त्र-विषयक है और शेष दो गद्य काव्य काव्य है। काव्यदर्श में तीन परिच्छेद हैं और श्लोकों की कुल संख्या 660है।

काव्य के विभिन्न अंगों का अलंकार में ही अंतर्निहित समझना इनका मान्य सिद्धांत था। यहां तक कि रस, भाव आदि को भी इन्होंने रसवदादी अलंकार माना है। भामह के समान इन्होंने भी वैदर्भ और गौड़ ये दो काव्य-रूप माने हैं, तथा इन्हें 'मार्ग' नाम दिया है। गौड़ मार्ग की अपेक्षा वैदर्भ मार्ग इन्हें अधिक प्रिय था, फिर भी गौड़ मार्ग को इन्होंने सर्वथा हेय तथा त्याज्य नहीं कहा। अलंकारों के लक्षणों में इन पर भामह का स्पष्ट प्रभाव है।

4. उद्भट–उद्भट कश्मीर राजा जयापीड़ के सभा-पण्डित थे। इनका समय नवम शती का पूर्वार्दर्ध है। यह अलंकार वादी सिद्धांत से संबंध आचार्य हैं। इनकी तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं- 'काव्यालंकारसारसंग्रह', 'भामह-विवरण' और 'कुमारसम्भव'। इनमें से केवल प्रथम ग्रंथ उपलब्ध है, जिसमें अलंकारों का आलोचनात्मक एवं वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है।

दण्डी के सामान ये भी रस, भाव आदि को रसवदादि अलंकारों के अंतर्गत मानते हैं। इन अलंकारों को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप देने का श्रेय इनको है।अनुप्रास अलंकार के अंतर्गत उप-नागरिका आदि वृत्तियों के निरूपण करने की जो शैली आगे चलकर मम्मट ने चलायी, उसका मूलाधार भी यही ग्रन्थ काव्यालंकारसार संग्रह है।

उद्भट के विशिष्ट सिद्धांत निम्नलिखित हैं-

(1) अर्थ भेद से शब्द भेद की कल्पना।
(2) श्लेष को सभी अलंकारों में श्रेष्ठ मानते हुए, श्लेष के दो प्रकार हैं, -शब्द श्लेष तथा अर्थ श्लेष श्लेष की कल्पना तथा दोनों को अर्थालंकारों में ही परिगणित करना।
(3) अर्थ के दो भेदों की कल्पना- विचारित-सुस्थ तथा अविचारित रमणीय।
(4) काव्य गुणों को संघटना का धर्म मानना।

5. वामन–उद्भट के समान वामन भी कश्मीरी राजा जयापीड़ के सभा-पंडित थे। इनका समय 800 ई. के आस-पास है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' है।काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में यह पहला सूत्र-बद्ध ग्रंथ है। सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं वामन ने लिखी है। इस ग्रंथ में 5 अधिकरण है। प्रत्येक अधिकरणों में कुछ अध्याय है और हर अध्याय में कुछ सूत्र। ग्रन्थ के पांचों अधिकरणों में अध्यायों की संख्या 12 हैं, सूत्रों की संख्या 319।

वामन रीतिवादी आचार्य थे। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है। इनके मतानुसार गुण रीति के आश्रित हैं। गुण काव्य की नित्य अंग है और अलंकार अनित्य अंग। रस को इन्होंने 'कान्ति' नामक गुण से अभिहित किया है। वामन पहले आचार्य हैं, जिन्होंने वक्रोक्ति को लक्षण का पर्याय मानते हुए इसे अर्थालंकारों में स्थान दिया है।

वामन के प्रमुख काव्य सिद्धांत निन्नलिखित हैं–

(1) रीति को काव्य की आत्मा माना (रीतिरात्मा काव्यस्य)।
(2) गुण और अलंकार का परस्पर विभेद तथा गुण को अलंकार की अपेक्षा अधिक महत्व देना।
(3) वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली- इन तीन रीतियों का कल्पना।
(4) वक्रोक्ति को सादृश्य मूलक लक्षणा मानना।
(5) समस्त अर्थालंकारों को उपमा का प्रपंच मानना।

6. रुद्रट–रुद्रट कश्मीर के निवासी थे तथा इनका जीवन-काल नवम शती का आरंभ माना जाता है। इनके ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' है, जिसमें 16 अध्याय हैं और कुल 734 पद है। यद्यपि रुद्रट अलंकारवादी युग के आचार्य हैं, किंतु भारत के उपरांत रस का व्यवस्थित और स्वतंत्र निरूपण इनके ग्रन्थ में उपलब्ध है। नायक-नायिका-भेद का विस्तृत निरूपण भी इन्होंने सर्वप्रथम किया है। कुछ विद्वान इन्हें अलंकारवादी आचार्य मानते हैं, किंतु अलंकार की अपेक्षा रस के प्रति इनका झुकाव कहीं अधिक है।

7. आनन्दवर्धन–आनंदवर्धन कश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा के सभापंडित थे। इनका जीवन काल नवम शती का मध्य भाग है। आनंदवर्धन ने काव्यशास्त्र में 'ध्वनि सम्प्रदाय' की स्थापना की। इनकी ख्याति 'ध्वन्यालोक' नामक अमर ग्रंथ के कारण है। इस ग्रंथ में चार उद्योग(अध्याय) है, तथा 117 कारिकाएं(सूत्रों की व्याख्या)।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों में आनंदवर्धन एक युगांतकारी आचार्य हैं। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। यद्यपि इन्होंने रस को ध्वनि का ही भेद माना है, पर रसध्वनि के प्रति अन्य ध्वनि-भेंदों की अपेक्षा इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है।

8. अभिनवगुप्त–अभिनवगुप्त कश्मीर के निवासी थे। यह दशम शती के अंत और एकादश शती के आरंभ में विद्यमान थे। इनका काव्यशास्त्र के साथ-साथ दर्शनशास्त्र पर भी समान अधिकार था। यही कारण है कि

काव्यशास्त्रीय विवेचन को आप अपना उच्च स्तर पर ले गए– ध्वन्यालोक पर 'लोचन' और नाट्यशास्त्र पर 'अभिनव-भारती' नामक टीकाएं इसके प्रमाण है। इन टीकाओं के गंभीर एवं स्वस्थ विवेचन तथा मार्मिक व्याख्यान के कारण इन्हें स्वतंत्र ग्रंथ का ही महत्व प्राप्त है और अभिनवगुप्त को टीकाकार के स्थान पर 'आचार्य' जैसे महामहिमशाली पद से सुशोभित किया जाता है।

अभिनवगुप्त ने व्याकरण शास्त्र, ध्वनि शास्त्र और नाट्य शास्त्र का अध्ययन क्रमशः नरसिंह गुप्त, भट्ट इन्दुराज और भट्टतौत को गुरु मानकर किया।

अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' रस सिद्धांत में एक प्रौढ़ एवं व्यवस्थित वाद है, यद्यपि इस वाद का समय-समय पर खंडन किया गया, किंतु फिर भी यह वाद अद्यावधि अचल बना हुआ है। अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' नामक श्रेष्ठ दार्शनिक कृति की रचना की। यह ग्रंथ रत्न तंत्र-शास्त्र का विश्वकोष माना जाता है।

9. धनंजय और धनिक–धनंजय और धनिक दोनों भाई थे। वे दसवीं शताब्दी के अंत में विद्यमान थे। धनंजय ध्वनि विरोधी आचार्य थे तथा 'दशरूपक' नामक ग्रंथ की रचना की और धनिक ने उस पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है, जो विद्वतापूर्ण एवं सारगर्भित है। दशरूपक नाट्यशास्त्र से संबंधित ग्रंथ है, इसमें चार प्रकार और लगभग 300 कारिकाएँ हैं। रसनिष्पत्ति के विषय में इन्होंने व्यंजनावाद को अस्वीकृत कर तात्पर्यवाद का समर्थन किया है। साधारणीकरण के प्रसंग में इन्होंने सर्वप्रथम कवित्व का समर्थन शब्दों में निर्देश किया है। शांत रस को ये काव्य में तो ग्राह्य मानते हैं, पर नाटक में नहीं।

10. कुन्तक–कुंतक कश्मीर के निवासी थे तथा इन्हें 'वक्रोक्ति' संप्रदाय के प्रवर्तक माना जाता है। कुंतक का समय दशम शती का अंत तथा एकादश शती का आरंभ माना जाता है। इनकी प्रसिद्धि 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक ग्रंथ के कारण है। इसमें 4 उन्मेष है। कुंतक प्रतिभासंपन्न आचार्य थे। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का 'जीवित' माना। इन्होंने सर्वप्रथम अलंकारों की वर्तमान संख्या को स्थिर करने का मार्ग दिखाया। स्वभावोक्ति अलंकार के संबंध में इन की धारणा साहसपूर्ण है और रसवदादि अलंकारों का विवेचन नितांत मालिक है।

11. महिम भट्ट–महिम भट्ट कश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्री धैर्य तथा गुरु का नाम श्यामल था। इनका समय 11 वीं शती का प्रारंभिक चरण है। इनकी कृति का नाम व्यक्ति विवेक है, जिसका शाब्दिक अर्थ

है, व्यक्ति अर्थात व्यंजना का विवेक। महिम भट्ट ने ध्वनि मत के खंडन के लिए 'व्यक्ति विवेक' की रचना की। व्यक्ति विवेक तीन विमर्शों(अध्यायों) में विभक्त है। महिम भट्ट अनुमानवादी आचार्य थे, परंतु इस ग्रंथ में अनुमानवाद का अनुसरण नहीं हुआ। यह ग्रंथ गम्भीर गद्य शैली में लिखित होने के कारण पर्याप्त रूप में जटिल है।

12. क्षेमेन्द्र–क्षेमेन्द्र कश्मीर के निवासी थे। वे 11 वीं सदी के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। क्षेमेन्द्र को 'औचित्य संप्रदाय' का प्रवर्तक माना जाता है। क्षेमेन्द्र के शिष्य गुरु अभिनवगुप्त थे। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध है- 'औचित्यविचारचर्चा', 'सुवृत्ततिलक' और 'कविकण्ठाभरण'।

प्रथम ग्रंथ में औचित्य को लक्ष्य में रखकर इन्होंने वाणी के विभिन्न अंगों-वाक्य, गुण, रस, क्रिया, करण, लिंग, उपसर्ग, देश, स्वभाव आदि का स्वरूप निर्धारित किया है। द्वितीय ग्रंथ में छंद के औचित्य का निर्देश है। तीसरा ग्रंथ कवि-शिक्षा से संबंधित है। क्षेमेन्द्र के ये ग्रंथ लघुकाय हैं, पर इनमें काव्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि 'औचित्य' कोई नया तत्त्व नहीं है, आनंदवर्धन 'औचित्य' शब्द को और महिम भट्ट 'औचित्य' शब्द को अपने दोष-प्रकरणों में स्थान दे आए थे, पर इसी के आधार पर समस्त वाग्मयों को निर्धारित कर देना क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है। कुछ विद्वान औचित्य को भी काव्यशास्त्र का एक सिद्धांत मानने लगे हैं।

13. मम्मट–मम्मट कश्मीर के निवासी माने जाते हैं। इनका जीवन काल 11 वीं शती का उत्तरार्थ है। इनकी प्रख्याति 'काव्यप्रकाश' के कारण है, जिसमें दस उल्लास हैं। काव्यशास्त्र की आचार्य मम्मट का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। इनके निरूपण की प्रमुख विशेषता है अपने समय तक की काव्यशास्त्रीय सभी विषय सामग्री का स्वच्छ एवं उपादेय संकलनय तथा उसका ध्वनि-संप्रदाय की दृष्टि से व्यवस्थापूर्ण संपादन। यह ग्रंथ इतना सुव्यवस्थित और सुसम्बद्ध है कि अद्यावधि इसके अध्ययन के बिना काव्यशास्त्र का ज्ञान अपूर्ण समझा जाता है। मम्मट ने ध्वनि संप्रदाय की पुष्टि करने के लिए अनुमानवादी, अभिधावादी, लक्षणावादी आदिआचार्यों का प्रबल तर्को द्वारा खंडन प्रस्तुत कर ध्वनि की स्थापना की है। अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती' अथवा अन्य स्रोतों से भरतसूत्र के चार व्याख्याताओं, भट्ट लोल्लट आदि, के व्याख्यान को इन्होंने अत्यंत संक्षिप्त किंतु सारगर्भित एवं सुसम्बद्ध शैली में इतनी परिपूर्णता से प्रस्तुत किया

है कि काव्यशास्त्र के विद्यार्थी को मूल स्रोत के अध्ययन की विशेष आवश्यकता नहीं रहती।

काव्यप्रकाश की अन्य विशेषता है-तीन गुणों की स्वीकृति और उनमें वामन मम्मट 20 गुणों का समाहार। दोष-निरूपण का विस्तार इस ग्रंथ की अन्य उल्लेखनीय विशेषता है। ध्वनि-संप्रदाय के समर्थक होने के नाते इन्होंने आनंदवर्धन के समान अन्य काव्यांगों का स्वरूप रस-ध्वनि के आधार पर स्थिर किया है।

14. रुय्यक–रुय्यक कश्मीर-निवासी थे। इनका समय 12 वीं शती का मध्यकाल है। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'अलंकारसर्वस्व' है। इन्होनें 'व्यक्तिविवेक' पर भी टीका लिखी थी। पर इसमें उन्होंने महिम भट्ट के अनुमानवाद को अमान्य ठहराया है, तथा एक स्थान पर उसका उपवास भी किया है।

'अलंकारसर्वस्व' अलंकारों का प्रौढ़ एवं प्रमाणिक ग्रंथ है। रुय्यक के ग्रंथ की एक अन्य विशेषता है, इसके आरंभ में अपने पूर्ववरती आचार्य के विभिन्न सिद्धांतों के संबंध में सारगर्भित, मार्मिक और तुलनात्मक समीक्षा का समावेश। यह समीक्षण जितना संक्षिप्त है, उतना ही महत्वपूर्ण और सुसम्बद्ध भी। इनका ग्रंथ अलंकार विषयक है, किंतु इसी आधार पर इन्हें भामह आदि के समान अलंकारवादी नहीं कहना चाहिए। ये अलंकार निरूपक तो हैं, पर इन्हें अलंकारवादी किसी रुप में नहीं कहना चाहिए।

15. विश्वनाथ–विश्वनाथ कदाचित् उड़ीसा के निवासी थे। इनका समय 14वीं शती का पूर्वार्द्ध है। आचार्य विश्वनाथ ने दस परिच्छेदों(अध्यायों) में 'साहित्यदर्पण' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की।

विश्वनाथ ने मम्मट, आनंदवर्धन, कुंतक, भोजराज आदि के काव्य लक्षणों का खंडन प्रस्तुत करने के उपरांत रस को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए काव्य का लक्षण निर्धारित किया है। इन्होंने सबसे घोर खण्डन मम्मट के काव्य लक्षण का किया गया है। किंतु फिर भी अपने ग्रंथ की अधिकांश सामग्री के लिए वे मम्मट के ही ऋणी हैं। अलंकार के स्वरूप निर्देश के लिए इन्होंने मम्मट के अतिरिक्त रुय्यक भी सहायता ली है।

16. जगन्नाथ–जगन्नाथ का यौवनकाल दिल्ली के प्रसिद्ध शासक शाहजहां के दरबार में बीता था। शाहजहां ने ही इन्हें 'पंडितराज' की उपाधि से विभूषित किया था। अतः इनका समय 17वीं शती का मध्यभाग है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'रसगंगाधर' है, जो अपूर्ण है। जगन्नाथ का काव्यलक्षण अधिकांशतः

परिपूर्ण एवं सुबोध है। इन्होंने काव्य के चार भेद माने हैं-उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम। ये ध्वनिवादी आचार्य थे फिर भी रस के प्रति इन्होंने अधिक समादर प्रकट किया है। भरत सूत्र पर उपलब्ध 11 व्याख्याओं का विशुद्ध संकलन भी इसी ग्रंथ में किया गया है। इन्होंने सर्वप्रथम गुण को रस के अतिरिक्त शब्द, अर्थ और रचना का भी धर्म समान रुप से स्वीकार किया है।

जगन्नाथ की समर्थ भाषा शैली, सिद्धांत प्रतिपादन की अद्‌भुत एवं परिपक्व विचार शक्ति और खंडन करने की विलक्षण प्रतिभा इन्हें प्रौढ़ एवं सिद्धहस्त आचार्य मानने को बाध्य करती है। रसगंगाधर के अतिरिक्त काव्यशास्त्र के संबंध में इनका एक अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध है- चित्रमीमांसा खंडन।

4

भारतीय काव्यशास्त्र में रस

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में काव्य को परिभाषित किया है - ''वाक्यं रसत्मकं काव्यम्'' अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। काव्य के आस्वाद को ही रस कहते हैं। काव्य का आनन्द ही रस है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि किसी काव्य को पढ़ने, सुनने में अथवा नाटकादि को देखने से पाठक, श्रोता या दर्शक आदि को जो असाधारण और अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है, उसे 'रस' कहते हैं।

जब हम कभी रस का अर्थ ग्रहण करते हैं, जीवन के सामान्य प्रसंगों में तो प्रायः इसका अर्थ होता है - आनन्द, सुख। हम कहते सुनते हैं कि आज बड़ा रस आया, जब कभी कोई रमणीक स्थल आदि देखते हैं, कौतूहल वाली वस्तु देखते या पढ़ते हैं या चमत्कारपूर्ण बातों को देखते अथवा सुनते हैं। नाटक, सिनेमा आदि में भी रस होते हैं। पठन-पाठन में भी रस मिलता है।

भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से ही रस शब्द का प्रयोग होता रहा है। वैसे तो सोमरस के रूप में भी 'रस' का प्रयोग हुआ है, किन्तु इसका प्रयोग आनन्द के रूप में भी हुआ है। वह चाहे अलौकिक आनन्द हो अथवा आध्यात्मिक आनन्द। तैत्तिरीय उपनिषद् में रस का उल्लेख कुछ इस प्रकार से हुआ है - ''रसौ वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'' अर्थात् रस वह ईश्वरीय अनुभूति है, जिसे प्राप्त करके आत्मा आनन्दी हो जाता है। साहित्य शास्त्र में रस के बारे में ऊपर कथन दिया गया है, भरत मुनि का एवं आचार्य विश्वनाथ का।

यदि हम देखें तो भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य का मूल प्रयोजन इसी रस-रूप आनन्द की प्राप्ति है। रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। इसे कुछ इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं कि किसी कविता, कहानी, उपन्यास आदि को पढ़ने-सुनने अथवा नाटकादि आदि के पढ़ने-सुनने से पाठक, श्रोता अथवा दर्शक को जिस चमत्कारपूर्ण असाधारण आनन्द की प्राप्ति होती है, उसे ही रस कहते हैं।

भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' ग्रन्थ में रस की विवेचना इस प्रकार की है - ''विभावानुभाव व्यवभिचारि संयोगद्रसनिष्पत्तिः'' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य विश्वनाथ ने चार प्रकार के भावों का उल्लेख किया और कहा - ''विभावानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा। रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्।।'' अर्थात् सहृदयों के हृदय का स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग प्राप्त कर लेता है तो रस-रूप में निष्पन्न हो जाता है।

प्राचीन जानकारी के अनुसार नौ स्थायी भाव हैं - रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। इन्हीं स्थायी भावों के अनुसार नौ रस की निष्पत्ति हुई। कालान्तर में 'वत्सल' एवं 'मधुर अथवा भक्ति' नामक स्थायी भाव भी माने गये हैं।

विभाव इन स्थायी भावों के कारण हैं। इन्हीं कारणों से ये स्थायी भाव जाग्रत होते हैं। विभाव के दो भेद होते हैं। आलम्बन और उद्दीपन।

आलम्बन विभाव वे कारण हैं, जैसे–नाटकादि के वे पात्र, जिन्हें देखकर अथवा पढ़कर किसी के हृदय में रति आदि स्थायी भाव रस-रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इस आलम्बन विभाव के भी दो भेद होते हैं - विषय एवं आश्रय। जिस पात्र के प्रति किसी पात्र के भाव जागृत होते हैं, वह विषय है। जिसमें यह जागृत होता है, वह आश्रय है। जैसे–पद्मावती को देखकर राजा उदयन के हृदय में रति भाव उत्पन्न होता है तो पद्मावती विषय है, जबकि राजा उदयन आश्रय हैं।

उद्दीपन विभाव स्थायी भावों को उद्दीप्त करके आस्वादन योग्य बनाते हैं। जैसे वीर रस के स्थायी भाव उत्साह के साथ सामने खड़ा शत्रु आलम्बन विभाव है, जबकि उसकी सेना, गर्जना, दर्पोक्ति आदि उद्दीपन विभाव हैं। इसके भी दो भेद होते हैं - आलम्बनगत या विषयगत एवं बाह्य या बहिर्गत।

अनुभाव - रति आदि स्थायी भावों को व्यक्त करने वाली आश्रय की चेष्टायें अनुभाव कहलाती है। ये चेष्टायें भाव-जागृति के उपरान्त आश्रय में

उत्पन्न होती है, अतः इन्हें अनुभाव कहा जाता है। विरह से व्याकुल नायक अथवा नायिका द्वारा सिसकियाँ भरना, क्रोध से कठोर वाणी बोलना, मिलन के भावावेश में आँसू, स्वेद निकलना आदि अनुभाव है। इसके चार भेद कहे गये हैं - (1) आंगिक (2) वाचिक (3) आहार्य एवं (4) सात्त्विक। इनमें सात्त्विक अनुभाव आठ माने गये हैं - (1) स्तम्भ (2) स्वेद (3) रोमांच (4) स्वरभंग (5) वेपथु (6) वैवर्ण्य (7) अश्रु एवं (8) प्रलय।

संचारी भाव या व्यभिचारी भाव - जो भाव हृदय में नित्य विद्यमान होते हैं, वे स्थायी भाव हैं, किन्तु कुछ भाव थोड़ी देर के लिये आते हैं और स्थायी भाव को पुष्ट करके चले जाते हैं, वे संचारी भाव कहलाते हैं। ये किसी एक रस में बँधे नहीं होते, अतः इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है। इनकी संख्या 33 मानी गयी है, किन्तु कालान्तर में आचार्य भानुगुप्त तथा कवि देव ने 'छल' को चौतीसवाँ संचारी भाव माना और पुनः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चकपकाहट' को पैंतीसवाँ संचारी भाव माना, किन्तु ये मान्य नहीं हो सके।

रस भेद

यदि हम रस के प्रकारों पर विचार करें, तो शास्त्रीय मत के अनुसार नौ स्थायी भाव माने जाते हैं और उन्हीं के अनुकूल उनके रस-रूप को प्राप्त करने वाले नौ रस माने गये हैं। ये नौ रस इस प्रकार हैं -

(1) शृंगार रस।
(2) वीर रस।
(3) करुण रस।
(4) रौद्र रस।
(5) भयानक रस।
(6) अद्‌भुत रस।
(7) वीभत्स रस।
(8) शान्त रस एवं
(9) हास्य रस।

ये सभी संस्कृत के अनुसार एवं शास्त्रीय दृष्टि से कहे गये हैं। कालान्तर में आचार्य विश्वनाथ ने 'वात्सल्य' को दसवाँ रस माना और उनके बाद रूपगोस्वामी ने 'मधुर' रस नामक ग्यारहवें रस को माना, जिसे बाद में 'भक्ति रस' के नाम से जाना गया।

(1) शृंगार रस – नर-नारी का पारस्परिक आकर्षण शृंगार रस का आधार है, जिसे काव्यशास्त्र में 'रति' कहा जाता है। जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रति नामक स्थायी भाव का आस्वाद प्राप्त होता है तो उसे शृंगार रस कहते हैं। इसके दो भेद हैं – संयोग या सम्भोग एवं वियोग या विप्रलम्भ। संयोग मिलन का द्योतक है, जबकि वियोग विरह का। वियोग के भी चार भेद कहे गये हैं – (1) पूर्वराग (2) मान, (3) प्रवास एवं (4) करुण।

(2) वीर रस – काव्यादि में शत्रु के पराक्रम, आक्रमण, किसी की दीनता, दुर्दशा आदि को देखकर, पढ़कर या सुनकर चित्त में जो उत्साह उत्पन्न होता है, वह विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाप में परिपुष्ट होकर आस्वादन के योग्य हो जाता है, वहाँ वीर रस होता है। वीर रस के चार भेद किये गये हैं – (1) युद्धवीर, (2) दयावीर, (3) धर्मवीर एवं (4) दानवीर। शृंगार के बाद वीर रस की ही प्रधानता मानी गयी है।

(3) करुण रस – प्रेमपात्र के चिर-वियोग में पीड़ित होने, इष्ट वस्तु की हानि, अप्रिय की प्राप्ति, अपमान, पराजय, विपत्ति आदि से उत्पन्न हुए क्लेश की व्यंजना से जो शोक नामक स्थायी भाव पुष्ट होता है, वही करुण रस में परिणत होता है।

(4) रौद्र रस – अहितकारी शत्रु की धृष्ट चेष्टाओं द्वारा किये गये अपमान, अपकार आदि से उत्पन्न क्रोध से रौद्र रस की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ वीर रस और रौद्र रस में जो अंतर है, उनको समझ लेना चाहिए, क्योंकि एक का स्थायी भाव उत्साह है और दूसरे का क्रोध।

(5) भयानक रस – भयदायक वस्तु को देखने अथवा सुनने से अथवा प्रबल शत्रुओं के कारण उत्पन्न हृदय में स्थित 'भय' का स्थायी भाव जब विभावादि से पुष्ट होता है तो भयानक रस की अभिव्यक्ति होती है।

(6) अद्‌भुत रस – किसी विचित्र, अभूतपूर्व, अश्रुतपूर्व अथवा असाधारण वस्तु को देखने अथवा सुनने से हृदय में जो आश्चर्य का भाव उत्पन्न होता है, उसी का वर्णन अद्‌भुत रस कहा जाता है।

(7) वीभत्स रस – अरुचिकर, घृणित वस्तुओं के वर्णन से जहाँ जुगुप्सा या घृणा उत्पन्न हो और वे विभावादि की सहायता से परिपुष्ट हों, तो उस रस को वीभत्स रस कहा जाता है।

(8) शांत रस – संसार की नश्वरता एवं परमात्मा के रूप का ज्ञान होने से संसार के प्रति जो विरक्ति की भावना उत्पन्न होती है, उसे निर्वेद कहा जाता

है। इसी स्थायी भाव के उत्पन्न होने पर जब विभावादि द्वारा पुष्ट होते है तो शान्त रस की अभिव्यक्ति होती है।

(9) हास्य रस - किसी वस्तु या व्यक्ति की साधारण से विपरीत विचित्र या विकृत आकृति, विकृत वेशभूषा, अटपटी वाणी, कुछ हँसी उत्पन्न करने वाला बातचीत का ढंग आदि चेष्टायें देखकर या पढ़कर या सुनकर मन में विनोद का भाव उत्पन्न होता है, जिसे हास कहते हैं। जब ये बाह्य कारणों विभावादि की सहायता से जागृत होते हैं तो जो अभिव्यक्ति होती है, वह 'हास्य रस' है। इसके छः भेद हैं - (1) स्मित (2) हसित (3) विहसित (4) अबहसित (5) अपहसित एवं (6) अतिहसित।

(10) वात्सल्य रस - संस्कृत की काव्य परम्परा में वात्सल्य को शृंगार रस के अर्न्तगत माना है। किन्तु शृंगार का स्थायी भाव 'रति' है, जबकि वात्सल्य माता-पिता का संतान के प्रति स्नेह है और उससे पुष्ट भाव है। अतः इसे भी मान्यता मिली है।

(11) भक्ति रस - इसे शान्त रस में माना गया है। किन्तु शान्त रस में निर्वेद की स्थिति होती है, जो विरागात्मक है, जबकि भक्ति रागात्मक है। इसका स्थायी भाव ईश्वर-विषयक प्रेम होता है। इसे भी एक रस के रूप में मान्यता मिली है।

भारतीय काव्यशास्त्र/रस के अंग

रस के अंग(अवयव)

रसनिष्पति के सम्बन्ध में भरत का प्रख्यात सिध्दांत विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पतिः। अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पति होती है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि सहृदयों का स्थायीभाव जब विभाव, अनुभाव और संचारिभाव का संयोग प्राप्त कर लेता है तो रस रूप में निष्पन्न हो जाता है। इन चारों को रस के अंग कहते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है-

स्थायीभाव

सहृदय के अन्तःकरण में जो मनोविकार वासना रूप से सदा विद्यमान रहते हैं तथा, जिन्हें अन्य कोई भी अविरूद्ध अथवा विरूद्ध भाव दबा नहीं सकता,

उन्हें स्थायीभाव कहते हैं। यही स्थायीभाव ही (रस-रूप) आस्वाद को अंकुरकन्द अर्थात् मूलभूत है। स्थायिभावों की संख्या सामान्यतः नौ मानी जाती है- रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। ये क्रमशः रसों के रूप में निष्पन्न होते हैं- शृंगार, हास्य, करूण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। इनके अतिरिक्त एक अन्य रस वत्सल भी माना जाता है, जिसका स्थायीभाव 'वात्सल्य' है। रस का स्थायिभाव के साथ सम्बन्ध सहृदयों के अन्तःकरण में रति आदि स्थायिभाव वासना रूप से सदा उस प्रकार विद्यमान रहते हैं, जिस प्रकार मिट्टी में गन्ध। जिस प्रकार मिट्टी में पूर्व विद्यमान गन्ध जल का संयोग पाकर प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार स्थायीभाव भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से व्यक्त होने पर 'रस' नाम से पुकारे जाते हैं।

विभाव

रस के कारण को विभाव कहते हैं अर्थात् विभाव का अर्थ है कारण। लोक में जो पदार्थ सामाजिक के हृदय में वासनारूप में स्थित रति, उत्साह, शोक इत्यादि भावों को उद्बोधित करने के कारण हैं, वे काव्य-नाटकादि में वर्णित होने पर विभाव कहलाते हैं। विभाव के दो भेद हैं- आलम्बनविभाव और उद्दीपनविभाव।

आलम्बनविभाव आलम्बन या विषय तो वह है, जिसके प्रति हृदय में भाव जागरित होते हैं और आश्रय वह है, जिसके हृदय में किसी के प्रति भाव जागरित होते हैं। उदाहरण के लिए कृष्ण और गोपियों के किसी प्रसंग को लें, यदि कृष्ण के लिए गोपियों में बेचैनी है, या कोई अन्य भाव है तो यहां कृष्ण आलम्बन हैं, गोपियां आश्रय हैं। यही दोनों मिलकर आलम्बन-विभाव हैं, क्योंकि दोनों सामाजिक (सहृदय) के स्थायी भावों को रसास्वाद तक पहुंचाने वाले कारण हैं।

उद्दीपन उद्दीपन विभाव वे कहलाते हैं, जो रस को उद्दीप्त करते हैं। अर्थात् जो स्थायीभावों को उद्दीप्त करके उनकी आस्वादन क्षमता बढ़ाते हैं और उन स्थायीभावों को रसावस्था तक पहुंचाने में सहायक होते हैं। उद्दीपन विभाव दो प्रकार के माने गये हैं- (1) आलम्बनगत बाह्य चेष्टाएं (2) बाह्य वातावरण। उदाहरणार्थ- (1) शृंगार रस में दुष्यन्त (आश्रय) के रतिभाव को अधिक तीव्र करने वाली शकुन्तला (आलम्बन) कटाक्ष, भुजा-विक्षेप आदि चेष्टाएं, रौद्र रस में परशुराम के क्रोध को उद्दीप्त करने वाली लक्ष्मण की व्यंग्योक्तियां आदि

आलम्बन-गत बाह्य चेष्टाएं उद्दीपन-विभाव कहलाती है। (2) शृंगार रस में नदी-तट, पुष्पवाटिका, चांदनी रात आदि, भयानक रस में घना वन हिंसक पशुओं की आवाजें, आधे मार्ग में ही रात्रि पड़ जाना, आदि बाह्य वातावरण जो कि आश्रय के स्थायीभावों का उद्दीप्त करता है, उद्दीपन विभाव कहलाता है।

अनुभाव

स्थायीभावों को प्रकाशित करने वाली आश्रय की बाह्य चेष्टाएं 'अनुभाव' कहलाती हैं। अनु का अर्थ है, पिछे, अर्थात् जो स्थायीभावों के पीछे (बाद में) उत्पन्न होते हैं, वे अनुभाव हैं। अथवा अनुभावयन्ति इति अनुभाव अर्थात् जो उत्पन्न स्थायीभावों का अनुभव कराते हैं, वे अनुभाव हैं। स्पष्ट है कि उक्त चेष्टाएं दुष्यन्त अथवा परशुराम में क्रमशः रति तथा क्रोध स्थायिभावों के उद्बुध्द होने के बाद उत्पन्न हुई हैं, अथवा इन्हीं चेष्टाओं से हम अनुभव कर पाते हैं कि उक्त दोनों आश्रयों में क्रमशः रति तथा क्रोध जाग्रत हो गए हैं, अतः ये अनुभाव कहाती हैं। अनुभाव चार माने गये हैं - (1) आंगिक - आर्थात् शरीर सम्बन्धी चेष्टाएं। (2) वाचिक - अर्थात् वाग्व्यापार। (3) आहार्य - अर्थात् वेश-भूषा, अलंकरण, साज-सज्जा आदि। (4) सात्त्विक - अर्थात् सत्व के योग से उत्पन्न कायिक चेष्टाएं। इनका निर्वहण स्वतः ही, बिना यत्न के आश्रय द्वारा हो जाता है। अतः इस वर्ग में आने वाली आश्रय की सभी चेष्टाएं 'अयत्नज' कहलाती हैं। सात्त्विक अनुभाव आठ माने गये हैं- स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवणर्य, अश्रु और प्रलय।

संचारिभाव (व्यभिचारीभाव)

संचारी का अर्थ है साथ-साथ चलना और संचरणशील होना। संचारी-भाव स्थायीभावों के सहकारी कारण हैं, यही उन्हें रसावस्था तक ले जाते हैं और स्वयं बीच में ही लुप्त हो जाते हैं। संचारीभाव अस्थिर मनोविकार या चित्तवृत्तियां हैं। ये आश्रय और आलम्बन के मन में उठते और मिटते हैं। अतः अस्थिर मनोविकार या चित्रवृत्तियां 'संचारीभाव' कहलाती हैं। यों संचारीभाव अनगिनत हैं, फिर भी सुविधा की दृष्टि से इनकी संख्या 33 मानी गई है- निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व,अवमर्ष,अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, त्रास, वितर्क।

निष्कर्ष- लौकिक कारणादि काव्य-नाटक में विभावादि नामों से अभिहित होते हैं। विभावादि सहृदय के स्थायीभाव का संयोग पाकर जब इसे चवर्यमाण स्थिति तक पहुंचा देते है तो यही स्थायिभाव 'रस' नाम से पुकारा जाता है।

रस (काव्य शास्त्र)

श्रव्य काव्य के पठन अथवा श्रवण एवं दृश्य काव्य के दर्शन तथा श्रवण में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वही काव्य में रस कहलाता है। रस के जिस भाव से यह अनुभूति होती है कि वह रस है, उसे स्थायी भाव होता है। रस, छंद और अलंकार - काव्य रचना के आवश्यक अवयव हैं।

रस का शाब्दिक अर्थ है - निचोड़। काव्य में जो आनन्द आता है वह ही काव्य का रस है। काव्य में आने वाला आनन्द अर्थात् रस लौकिक न होकर अलौकिक होता है। रस काव्य की आत्मा है। संस्कृत में कहा गया है कि 'रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम्' अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है।

रस अन्त:करण की वह शक्ति है, जिसके कारण इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं, मन कल्पना करता है, स्वप्न की स्मृति रहती है। रस आनंद रूप है और यही आनंद विशाल का, विराट का अनुभव भी है। यही आनंद अन्य सभी अनुभवों का अतिक्रमण भी है। आदमी इन्द्रियों पर संयम करता है तो विषयों से अपने आप हट जाता है, परंतु उन विषयों के प्रति लगाव नहीं छूटता। रस का प्रयोग सार तत्त्व के अर्थ में चरक, सुश्रुत में मिलता है। दूसरे अर्थ में, अवयव तत्त्व के रूप में मिलता है। सब कुछ नष्ट हो जाय, व्यर्थ हो जाय, पर जो भाव रूप तथा वस्तु रूप में बचा रहे, वही रस है। रस के रूप में जिसकी निष्पत्ति होती है, वह भाव ही है। जब रस बन जाता है तो भाव नहीं रहता। केवल रस रहता है। उसकी भावता अपना रूपांतर कर लेती है। रस अपूर्व की उत्पत्ति है। नाट्य की प्रस्तुति में सब कुछ पहले से दिया रहता है, ज्ञात रहता है, सुना हुआ या देखा हुआ होता है। इसके बावजूद कुछ नया अनुभव मिलता है। वह अनुभव दूसरे अनुभवों को पीछे छोड़ देता है। अकेले एक शिखर पर पहुँचा देता है। रस का यह अपूर्व रूप अप्रमेय और अनिर्वचनीय है।

रसों का परस्पर विरोध

मित्रता के समान ही इन रसों की प्रयोगस्थिति के अनुसार इनके विरोध की कल्पना भी की गई है। किस रस विशेष के साथ किन अन्य रसों का तुरंत

वर्णन आस्वाद में बाधक होगा, यह विरोध भावना इसी विचार पर आधारित है। करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक से शृंगार काय भयानक और करुण से हास्य काय हास्य और शृंगार से करुण काय हास्य, शृंगार और भयानक से रौद्र काय शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शात से भयानक काय भयानक और शांत से वीर काय वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक से शांत का विरोध माना जाता है। यह विरोध आश्रय ऐक्य, आलंबन ऐक्य अथवा नैरंतर्य के कारण उपस्थित होता है। प्रबंध काव्य में ही इस विरोध की संभावना रहती है। मुक्तक में प्रसंग की छंद के साथ ही समाप्ति हो जाने से इसका भय नहीं रहता है। लेखक को विरोधी रसों का आश्रय तथा आलंबनों को पृथक-पृथक रखकर अथवा दो विरोधी रसों के बीच दोनों के मित्र रस को उपस्थित करके या प्रधान रस की अपेक्षा अंगरस का संचारीवत् उपस्थित करके इस विरोध से उत्पन्न आस्वाद-व्याघात को उपस्थित होने से बचा लेना चाहिए।

रस की आस्वादनीयता

रस की आस्वादनीयता का विचार करते हुए उसे ब्रह्मानंद सहोदर, स्वप्रकाशानंद, विलक्षण आदि बताया जाता है और इस आधार पर सभी रसों को आनंदात्मक माना गया है। भट्टनायक (10वीं शती ई.) ने सत्वोद्रैक के कारण ममत्व-परत्व-हीन दशा, अभिनवगुप्त (11वीं शती ई.) ने निर्विन प्रतीति तथा आनंदवर्धन (9 श. उत्तर) ने करुण में माधुर्य तथा आर्द्रता की अवस्थित बताते हुए शृंगार, विप्रलंभ तथा करुण को उत्तरोत्तर प्रकर्षमय बताकर सभी रसों की आनंदस्वरूपता की ओर ही संकेत किया है। किंतु अनुकूलवेदनीयता तथा प्रतिकूलवेदनीयता के आधार पर भावों का विवेचन करके रुद्रभट्ट (9 से 11वीं शती ई. बीच) रामचंद्र गुणचंद्र (12वीं श.ई.), हरिपाल, तथा धनंजय ने और हिंदी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रसों का सुखात्मक तथा दु:खात्मक अनुभूतिवाला माना है। अभिनवगुप्त ने इन सबसे पहले ही 'अभिनवभारती' में 'सुखदु:खस्वभावों रस:' सिद्धान्त को प्रस्तुत कर दिया था। सुखात्मक रसों में शृंगार, वीर, हास्य, अद्‌भुत तथा शांत की और दु:खात्मक में करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक की गणना की गई। 'पानकरस' का उदाहरण देकर जैसे यह सिद्ध किया गया कि गुड़ मिरिच आदि को मिश्रित करके बनाए जाने वाले पानक रस में अलग-अलग वस्तुओं का खट्टा मीठापन न मालूम होकर एक विचित्र प्रकार का आस्वाद मिलता है, उसी प्रकार यह भी कहा गया कि उस वैचित्र्य में भी आनुपातिक

ढंग से कभी खट्टा, कभी तिक्त और इसी प्रकार अन्य प्रकार का स्वाद आ ही जाता है। मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि रज अथवा तम की अपेक्षा सत्व को प्रधान मान लेने पर भी यह तो मानना ही चाहिए कि अंशत: उनका भी आस्वाद बना रहता है। आचार्य शुक्ल का मत है कि हमें अनुभूति तो वर्णित भाव की ही होती है और भाव सुखात्मक दु:खात्मक आदि प्रकार के हैं, अतएव रस भी दोनों प्रकार का होगा। दूसरी ओर रसों को आनंदात्मक मानने के पक्षपाती सहृदयों को ही इसका प्रमाण मानते हैं और तर्क का सहारा लेते हैं कि दु:खदायी वस्तु भी यदि अपनी प्रिय है तो सुखदायी ही प्रतीत होती है। जैसे, रतिकेलि के समय स्त्री का नखक्षतादि से यों तो शरीर पीड़ा ही अनुभव होती है, किंतु उस समय वह उसे सुख ही मानती है। भोज (11वीं शती ई.) तथा विश्वनाथ (14वीं शती ई.) की इस धारणा के अतिरिक्त स्वयं मधुसूदन सरस्वती रसों को लौकिक भावों की अनुभूति से भिन्न और विलक्षण मानकर इनकी आनंदात्मकता का समर्थन करते हैं और अभिनवगुप्त वीतविनप्रतीत वताकर इस धारणा को स्पष्ट करते हैं कि उसी भाव का अनुभव भी यदि बिना विचलित हुए और किसी बाहरी अथवा अंतरोद्भूत अंतराय के बिना किया जाता है तो वह सह्य होने के कारण आनंदात्मक ही कहलाता है। यदि दु:खात्मक ही मानें तो फिरशृंगार के विप्रलंभ भेद को भी दु:खात्मक ही मानें तो फिरशृंगार के विप्रलंभ भेद को भी दु:खात्मक ही क्यों न माना जाए? इस प्रकार के अनेक तर्क देकर रसों की आनंदरूपता सिद्ध की जाती है। अंग्रेजी में ट्रैजेडी से मिलनेवाले आनंद का भी अनेक प्रकार से समाधान किया गया है और मराठी लेखकों ने भी रसों की आनंदरूपता के संबंध में पर्याप्त भिन्न धारणाएँ प्रस्तुत की हैं।

रसों का राजा कौन है?

प्राय: रसों के विभिन्न नामों की औपाधिक या औपचारिक सत्ता मानकर पारमार्थिक रूप में रस को एक ही मानने की धारणा प्रचलित रही है। भरत ने 'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थ–प्रवर्तत' पंक्ति में 'रस' शब्द का एक वचन में प्रयोग किया है और अभिनवगुप्त ने उपरिलिखित धारणा व्यक्त की है। भोज ने शृंगार को ही एकमात्र रस मानकर उसकी सर्वथैव भिन्न व्याख्या की है, विश्वनाथ की अनुसार नारायण पंडित चमत्कारकारी अद्भुत को ही एकमात्र रस मानते हैं, क्योंकि चमत्कार ही रसरूप होता है। भवभूति (8वीं शती ई.) ने करुण को ही एकमात्र रस मानकर उसी से सबकी उत्पत्ति बताई है और भरत के 'स्वं स्वं

निमित्तमासाद्य शांताद्भावः प्रवर्तते, पुनर्निमित्तापाये च शांत एवोपलीयते' – (नाट्यशास्त्र 6/108) वक्तव्य के आधार पर शांत को ही एकमात्र रस माना जा सकता है। इसी प्रकार उत्साह तथा विस्मय की सर्वरससंचारी स्थिति के आधार पर उन्हें भी अन्य सब रसों के मूल में माना जा सकता है। रस आस्वाद और आनंद के रूप में एक अखंड अनुभूति मात्र है, यह एक पक्ष है और एक ही रस से अन्य रसों का उद्भव हुआ है, यह दूसरा पक्ष है।

रसाप्राधान्य के विचार में रसराजता की समस्या उत्पन्न की है। भरत समस्त शुचि, उज्ज्वल, मेध्य और दलनीय को शृंगार मानते हैं, 'अग्निपुराण' (11वीं शती) शृंगार को ही एकमात्र रस बताकर अन्य सबको उसी के भेद मानता है, भोज शृंगार को ही मूल और एकमात्र रस मानते हैं, परंतु उपलब्ध लिखित प्रमाण के आधार पर 'रसराज' शब्द का प्रयोग 'उज्ज्वलनीलमणि' में भक्तिरस के लिए ही दिखाई देता है। हिंदी में केशवदास (16वीं शती ई.) शृंगार को रसनायक और देव कवि (18वीं शती ई.) सब रसों का मूल मानते हैं। 'रसराज' संज्ञा का शृंगार के लिए प्रयोग मतिराम (18वीं शती ई.) द्वारा ही किया गया मिलता है। दूसरी ओर बनारसीदास (17वीं शती ई.) 'समयसार' नाटक में 'नवमों सांत रसनि को नायक' की घोषणा करते हैं। रसराजता की स्वीकृति व्यापकता, उत्कट आस्वाद्यता, अन्य रसों को अंतर्भूत करने की क्षमता सभी संचारियों तथा सात्विकों को अंतःसात् करने की शक्ति सर्वप्राणिसुलभत्व तथा शीघ्रग्राह्यता आदि पर निर्भर है। ये सभी बातें जितनी अधिक और प्रबल शृंगार में पाई जाती हैं, उतनी अन्य रसों में नहीं। अतः रसराज वही कहलाता है। रासो का राजाशृंगार रस को माना जाता है

शृंगार रस

विचारकों ने रौद्र तथा करुण को छोड़कर शेष रसों का भी वर्णन किया है। इनमें सबसे विस्तृत वर्णन शृंगार का ही ठहरता है। शृंगार रस मुख्यतः संयोग तथा विप्रलंभ या वियोग के नाम से दो भागों में विभाजित किया जाता है, किंतु धनंजय आदि कुछ विद्वान् विप्रलंभ के पूर्वानुराग भेद को संयोग-विप्रलंभ-विरहित पूर्वावस्था मानकर अयोग की संज्ञा देते हैं तथा शेष विप्रयोग तथा संभोग नाम से दो भेद और करते हैं। संयोग की अनेक परिस्थितियों के आधार पर उसे अगणेय मानकर उसे केवल आश्रय भेद से नायकारब्ध, नायिकारब्ध अथवा उभयारब्ध, प्रकाशन के विचार से प्रच्छन्न तथा प्रकाश या स्पष्ट और गुप्त तथा

प्रकाशनप्रकार के विचार से संक्षिप्त, संकीर्ण, संपन्नतर तथा समृद्धिमान नामक भेद किए जाते हैं तथा विप्रलंभ के पूर्वानुराग या अभिलाषहेतुक, मान या ईर्श्याहेतुक, प्रवास, विरह तथा करुण प्रिलंभ नामक भेद किए गए हैं। 'काव्यप्रकाश' का विरहहेतुक नया है और शापहेतुक भेद प्रवास के ही अंतर्गत गृहीत हो सकता है, 'साहित्यदर्पण' में करुण विप्रलंभ की कल्पना की गई है। पूर्वानुराग कारण की दृष्टि से गुणश्रवण, प्रत्यक्षदर्शन, चित्रदर्शन, स्वप्न तथा इंद्रजाल-दर्शन-जन्य एवं राग स्थिरता और चमक के आधार पर नीली, कुसुंभ तथा मंजिष्ठा नामक भेदों में बाँटा जाता है। 'अलंकारकौस्तुभ' में शीघ्र नष्ट होनेवाले तथा शोभित न होनेवाले राग को 'हारिद्र' नाम से चौथा बताया है, जिसे उनका टीकाकार 'श्यामाराग' भी कहता है। पूर्वानुराग का दश कामदशाएँ - अभिलाष, चिंता, अनुस्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, विलाप, व्याधि, जड़ता तथा मरण (या अप्रदर्श्य होने के कारण उसके स्थान पर मूर्च्छा) - मानी गई हैं, जिनके स्थान पर कहीं अपने तथा कहीं दूसरे के मत के रूप में विष्णुधर्मोत्तरपुराण, दशरूपक की अवलोक टीका, साहित्यदर्पण, प्रतापरुद्रीय तथा सरस्वतीकंठाभरण तथा काव्यदर्पण में किंचित् परिवर्तन के साथ चक्षुप्रीति, मनरूसंग, स्मरण, निद्राभंग, तनुता, व्यावृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण का उल्लेख किया गया है।

शारदातनय (13वीं शती) ने इच्छा तथा उत्कंठा को जोड़कर तथा विद्यानाथ (14वीं शती पूर्वार्ध) ने स्मरण के स्थान पर संकल्प लाकर और प्रलाप तथा संज्वर को बढ़ाकर इनकी संख्या 12 मानी है। यह युक्तियुक्त नहीं है और इनका अंतर्भाव हो सकता है। मान-विप्रलंभ प्रणय तथा ईर्ष्या के विचार से दो प्रकार का तथा मान की स्थिरता तथा अपराध की गंभीरता के विचार से लघु, मध्यम तथा गुरु नाम से तीन प्रकार का, प्रवासविप्रलंभ कार्यज, शापज, सँभ्रमज नाम से तीन प्रकार का और कार्यज के यस्यत्प्रवास या भविष्यत् गच्छत्प्रवास या वर्तमान तथा गतप्रवास या भविष्यत् गच्छत्प्रवास या वर्तमान तथा गतप्रवास या भूतप्रवास, शापज के तादूप्य तथा वैरूप्य, तथा संभ्रमज के उत्पात, वात, दिव्य, मानुष तथा परचक्रादि भेद के कारण कई प्रकार का होता है। विरह गुरुजनादि की समीपता के कारण पास रहकर भी नायिका तथा नायक के संयोग के होने का तथा करुण विप्रलंभ मृत्यु के अनंतर भी पुनर्जीवन द्वारा मिलन की आशा बनी रहने वाले वियोग को कहते हैं। शृंगार रस के अंतर्गत नायिकालंकार, ऋतु तथा प्रकृति का भी वर्णन किया जाता है। एक उदाहरण है-

1. राम को रूप निहारति जानकी कंगन के नग की परछाहीं।
2. याते सबे सुधि भूलि गइ,करटेकि रही पल टारत नाही।। तुलसीदास कृत रामचरित मानस के -बालकांड-17
3. इसी प्रकार संयोग तथा विप्रलंभ या वियोग के नाम से दो भागों में विभाजित शृंगार रस का उदाहरण-

संयोग शृंगार

1. बतरस लालच लाल की, मुरली धरि लुकाये।
2. सौंह करे, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाये। -बिहारीलाल
3. राम को रूप निहारती जानकी कंकन के नग के परछाहीं, याति सब शुध भूल गयी पेर टेक रही कर टारत नहीं।।

वियोग या विप्रलंभ शृंगार

1. निसिदिन बरसत नयन हमारे,
2. सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब ते स्याम सिधारे/ -सूरदास

हास्य रस

हास्य रस के विभावभेद से आत्मस्थ तथा परस्थ एवं हास्य के विकासविचार से स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित भेद करके उनके भी उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति भेद से तीन भेद करते हुए उनके अंतर्गत पूर्वोक्त क्रमशः दो-दो भेदों को रखा गया है। हिंदी में केशवदास तथा एकाध अन्य लेखक ने केवल मंदहास, कलहास, अतिहास तथा परिहास नामक चार ही भेद किए हैं। अंग्रेजी के आधार पर हास्य के अन्य अनेक नाम भी प्रचलित हो गए हैं।

उदाहरण

1. सीस पर गंगा हँसे, भुजनि भुजंगा हँसैं,
2. हास ही को दंगा भयो, नंगा के विवाह में। पद्माकर
3. तंबूरा ले मंच पर बैठे प्रेमप्रताप,
4. साज मिले पंद्रह मिनट घंटा भर आलाप।
5. घंटा भर आलाप, राग में मारा गोता,
6. धीरे-धीरे खिसक चुके थे सारे श्रोता। (काका हाथरसी)।

नया उदाहरण–

मैं ऐसा महावीर हूं,
पापड़ तोड़ सकता हूँ।
अगर गुस्सा आ जाए,
तो कागज को मरोड़ सकता हूँ।।

शान्त रस

शांत रस का उल्लेख यहाँ कुछ दृष्टि और शांत स्वभाव आवश्यक है। इसके स्थायीभाव के संबंध में ऐकमत्य नहीं है। कोई शम को और कोई निर्वेद को स्थायी मानता है। रुद्रट (9 ई.) ने 'सम्यक् ज्ञान' को, आनंदवर्धन ने 'तृष्णाक्षयसुख' को, तथा अन्यों ने 'सर्वचित्तवृत्तिप्रशम', निर्विशेषचित्तवृत्ति, 'घृति' या 'उत्साह' को स्थायीभाव माना। अभिनवगुप्त ने 'तत्त्वज्ञान' को स्थायी माना है। शांत रस का नाट्य में प्रयोग करने के संबंध में भी वैमत्य है। विरोधी पक्ष इसे विक्रियाहीन तथा प्रदर्शन में कठिन मानकर विरोध करता है तो समर्थक दल का कथन है कि चेष्टाओं का उपराम प्रदर्शित करना शांत रस का उद्देश्य नहीं है, वह तो पर्यंतभूमि है। अतएव पात्र की स्वभावगत शांति एवं लौकिक दु:ख सुख के प्रति विराग के प्रदर्शन से ही काम चल सकता है। नट भी इन बातों को और इनकी प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्नों को दिखा सकता है और इस दशा में संचारियों के ग्रहण करने में भी बाधा नहीं होगी। सर्वेंद्रिय उपराम न होने पर संचारी आदि हो ही सकते हैं। इसी प्रकार यदि शांत शम अवस्थावाला है तो रौद्र, भयानक तथा वीभत्स आदि कुछ रस भी ऐसे हैं, जिनके स्थायीभाव प्रबुद्ध अवस्था में प्रबलता दिखाकर शीघ्र ही शांत होने लगते हैं। अतएव जैसे उनका प्रदर्शन प्रभावपूर्ण रूप में किया जाता है, वैसे ही इसका भी हो सकता है। जैसे मरण जैसी दशाओं का प्रदर्शन अन्य स्थानों पर निषिद्ध है वैसे ही उपराम की पराकाष्ठा के प्रदर्शन से यहाँ भी बचा जा सकता है।

शांत का कोई भेद नहीं है। केवल रुद्रभट्ट ने अवश्य वैराग्य, दोषनिग्रह, संतोष तथा तत्त्वसाक्षात्कार नाम से इसके चार भेद दिए हैं, जो साधन मात्र के नाम है और इनकी संख्या बढ़ाई भी जा सकती है।

उदाहरण –

कबहुँक हों यही रहनि रहोंगे।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा तें संत सुभाव गहओंगो। (तुलसीदास)

मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूँद बिनसि जाय छिन में, गरब करै क्या इतना। (कबीर)

करुण रस

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में प्रतिपादित आठ नाट्य रसों में शृंगार और हास्य के अनन्तर तथा रौद्र से पूर्व करुण रस की गणना की गई। 'रौद्रात्तु करुणो रसः' कहकर 'करुण रस' की उत्पत्ति 'रौद्र रस' से मानी गई है और उसकी उत्पत्ति शापजन्य क्लेश विनिपात, इष्टजन-विप्रयोग, विभव नाश, वध, बन्धन, विद्रव अर्थात पलायन, अपघात, व्यसन अर्थात आपत्ति आदि विभावों के संयोग से स्वीकार की है। साथ ही निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रस, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वेवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद आदि की व्यभिचारी या संचारी भाव के रूप में परिगणित किया है। उदाहरण –

मुख मुखाहि लोचन स्रवहि सोक न हृदय समाइ।
मनहूँ करुन रस कटकई उत्तरी अवध बजाइ। (तुलसीदास)
करुणे, क्यों रोती है? उत्तर में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है, जो, उसको भवभूति क्यों कहे कोई? (मैथिलीशरण गुप्त)

रौद्र रस

काव्यगत रसों में रौद्र रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स, इन चार रसों को ही प्रधान माना है, अतः इन्हीं से अन्य रसों की उत्पत्ति बतायी है, यथा-'तेषामुत्पत्तिहेतवच्क्षत्वारो रसाः शृंगारो रौद्रो वीरो वीभत्स इति'। रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति बताते हुए भरत कहते हैं कि 'रौद्रस्यैव च यत्कर्म स शेयरू करुणो रसः'। रौद्र रस का कर्म ही करुण रस का जनक होता है। रौद्र रस का 'स्थायी भाव' 'क्रोध' है तथा इसका वर्ण रक्त एवं देवता रुद्र है। केशवदास की 'रामचन्द्रिका' से रौद्र रस का उदाहरण पहले ही अंकित किया जा चुका है। भूषण की रचनाओं में भी रौद्र रस के उदाहरण मिल जाते हैं। वर्तमान काल में श्यामनारायण पाण्डेय तथा 'दिनकर' की रचनाओं में रौद्र रस की प्रभावकारी व्यंजना हुई है। संस्कृत के ग्रन्थों में 'महाभारत' तथा 'वीरचरित', 'वेणीसंहार' इत्यादि नाटकों में रौद्र रस की प्रभूत अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण –

बोरौ सवै रघुवंश कुठार की धार में बारन बाजि सरत्थहि।
बान की वायु उड़ाइ कै लच्छन लक्ष्य करौ अरिहा समरत्थहिं।
रामहिं बाम समेत पठै बन कोप के भार में भूजौ भरत्थहिं।

जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तो आजु अनाथ करौ दसरत्थहि।(केशवदास की 'रामचन्द्रिका' से।)

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ से जलने लगे।
सब शील अपना भूल कर करतल युगल मलने लगे।
संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वे हो गए उठ कर खड़े। (मैथिलीशरण गुप्त)

वीर रस

श्रृंगार, रौद्र तथा वीभत्स के साथ वीर रस को भी भरत मुनि ने मूल रसों में परिगणित किया है। वीर रस से ही अदभुत रस की उत्पत्ति बतलाई गई है। वीर रस का 'वर्ण' 'स्वर्ण' अथवा 'गौर' तथा देवता इन्द्र कहे गये हैं। यह उत्तम प्रकृति वालों से सम्बद्ध है तथा इसका स्थायी भाव 'उत्साह' है। वीर रस के केवल युद्धवीर, धर्मवीर, दयावीर तथा दानवीर भेद स्वीकार किए जाते हैं। उत्साह को आधार मानकर पंडितराज (17वीं शती मध्य) आदि ने अन्य अनेक भेद भी किए हैं।

उदाहरण –

'वह खून कहो किस मतलब का, जिसमें
उबल कर नाम न हो'
'वह खून कहो किस मतलब, जो देश के
काम ना हो'
वीर तुम बढ़े चलो, धीर तुम बढ़े चलो।
सामने पहाड़ हो कि सिंह की दहाड़ हो।
तुम कभी रुको नहीं, तुम कभी झुको नहीं। (द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी

अद्‌भुत रस

अद्‌भुत रस के भरतमुनि ने दो भेद बताए हैं– दिव्य तथा आनन्दज। वैष्णव आचार्य इसके दृष्ट, श्रुत, संकीर्तित तथा अनुमित नामक भेद करते हैं। उदाहरण–

अखिल भुवन चर-अचर सब, हरि मुख में लिख मातु।
चकित भई गद्‌गद बचना, विकसित दृग पुलकातु॥

वीभत्स रस

बीभत्स भरत तथा धनंजय के अनुसार शुद्ध, क्षोभन तथा उद्वेगी नाम से तीन प्रकार का होता है। उदाहरण–

सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं प्यार अतिहि आनंद उर धारत।
गीध जाँघि को खोदि-खोदि कै मांस उपारत।
स्वान अंगुरिन काटि-काटि कै खात विदारत।

भयानक रस

भयानक कारणभेद से व्याज जन्य या भ्रमजनित, अपराध जन्य या काल्पनिक तथा वित्रसितक या वास्तविक नाम से तीन प्रकार का और स्वनिष्ठ परनिष्ठ भेद से दो प्रकार का माना जाता है।

रसों का अन्तर्भाव आदि

स्थायीभावों के किसी विशेष लक्षण अथवा रसों के किसी भाव की समानता के आधार पर प्रायः रसों का एक दूसरे में अंतर्भाव करने, किसी स्थायी भाव का तिरस्कार करके नवीन स्थायी मानने की प्रवृत्ति भी यदा-कदा दिखाई पड़ी है। यथा, शांत रस और दयावीर तथा वीभत्स में से दयावीर का शांत में अंतर्भाव तथा बीभत्स स्थायी जुगुप्सा को शांत का स्थायी माना गया है। 'नागानंद' नाटक को कोई शांत का और कोई दयावीर रस का नाटक मानता है। किंतु यदि शांत के तत्त्वज्ञानमूलक विराम और दयावीर के करुणाजनित उत्साह पर ध्यान दिया जाए तो दोनों में भिन्नता दिखाई देगी। इसी प्रकार जुगुप्सा में जो विकर्षण है वह शांत में नहीं रहता। शांत राग-द्वेष दोनों से परे समावस्था और तत्त्वज्ञानसंमिलित रस है, जिसमें जुगुप्सा संचारी मात्र बन सकती है। ठीक ऐसे जैसे करुण में भी सहानुभूति का संचार रहता है और दयावीर में भी, किंतु करुण में शोक की स्थिति है और दयावीर में सहानुभूतिप्रेरित आत्मशक्तिसंभूत आनंदरूप उत्साह की। अथवा, जैसे रौद्र और युद्धवीर दोनों का आलंबन शत्रु है, अतः दोनों में क्रोध की मात्रा रहती है, परंतु रौद्र में रहने वाली प्रमोदप्रतिकूल तीक्ष्णता और

अविवेक और युद्धवीर में उत्साह की उत्फुल्लता और विवेक रहता है। क्रोध में शत्रुविनाश में प्रतिशोध की भावना रहती है और वीर में धैर्य और उदारता। अतएव इनका परस्पर अंतर्भाव संभव नहीं। इसी प्रकार 'अंमर्ष' को वीर का स्थायी मानना भी उचित नहीं, क्योंकि अमर्ष निंदा, अपमान या आक्षेपादि के कारण चित्त के अभिनिवेश या स्वाभिमानावबोध के रूप में प्रकट होता है, किंतु वीर रस के दयावीर, दानवीर, तथा धर्मवीर नामक भेदों में इस प्रकार की भावना नहीं रहती।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस की अवधारणा

भारतीय संस्कृत में रस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है – "रस्यते आस्वाघते इति रसः" अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाए, वही रस है – अथवा "सते इति रसः" अर्थात् जो बहे, वह रस है। इस प्रकार रस की दो विशेषताएँ लक्षित होती हैं – आस्वाद्यत्व और द्रवत्व। हमारे आदि ग्रंथ वेद, उपनिषद और पुराणों में "स" शब्द का प्रयोग व्यावहारिक जीवन के लिए मिलता है काव्यानन्द के अर्थ में नहीं। तैतिरी योपनिषद की मान्यता है कि वह अर्थात् 'ब्रह्म' निश्चय ही रस है और जो उस रस को प्राप्त करे उसे आनन्द की अनुभूति होती है उपर्युक्त सभी प्रयोगों से स्पष्ट है कि रस का मूल अर्थ कदाचित् द्रवरूप वनस्पति – सार ही था। यह द्रव निश्चय ही आस्वाद – विशिष्ट होता था – अतः एव। "आस्वाद" रूप में भी इसका अर्थ – विकास स्वतः ही हो गया, यह निष्कर्ष सहज निकाला जा सकता है। सोम नामक औषधि का रस अपने आस्वाद और गुण के कारण आर्यों को विशेष प्रिय था, अतः सोमरस के अर्थ में रस का प्रयोग और भी विशिष्ट हो गया। अतः सोमरस के संसर्ग से रस की अर्थ – परिधि में क्रमशः शक्ति, मद और अंत में आह्लाद का समावेश हो गया। आह्लाद का अर्थ भी सूक्ष्मतर होता गया – वह जीवन के आहलंद से आत्मा के आल में परिणत हो गया और वैदिक युग में ही आत्मानंद का वाचक बन गया, अथर्ववेद में उपर्युक्त अर्थ – विकास के स्पष्ट प्रभाव मिल जाते हैं।

परिचय

भारतीय सौन्दर्य – दर्शन का मूल आधार है काव्यशास्त्र। यद्यपि दर्शन में भी, विशेषकर आनंदवादी आगमन – ग्रन्थों में, आत्म – तत्त्व के व्याख्यान के अन्तर्गत सौन्दर्य की अनुभूति के विषय में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं, फिर भी सौन्दर्य के आस्वाद और स्वरूप का व्यवस्थित विवेचन काव्यशास्त्र में ही मिलता

है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से सौन्दर्य - चेतना एक मिश्रवृत्ति है। इसके योजक तत्त्व हैं। (1) प्रीति अर्थात् आनंद और (2) विस्मय। भारतीय काव्यशास्त्र इस रहस्य से आरंभ से ही अवगत था: उसके दो प्रतिनिधि सिद्धांत रस और अलंकार क्रमश: प्रीति और विस्मय के ही शास्त्रीय विकास हैं। सौन्दर्य के आस्वाद में निहित प्रीतितत्त्व का प्राधान्य रस - सिद्धांत में प्रस्फुटित और विकसित हुआ और उधर विस्मय - तत्त्व की प्रमुखता ने वक्रता, अतिशय आदि के माध्यम से अलंकारवाद का रूप धारण किया। इन दोनों में रस - सिद्धांत केवल कालक्रम की दृष्टि से ही नहीं, वरन् प्रभाव और प्रसार की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण है - वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र की आधारशीला यही है।

1. रस शब्द का अर्थ - विकास

रस भारतीय वांग्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। सामान्य व्यवहार में इसका चार अर्थों में प्रयोग होता हैं–

1. पदार्थों का रस - अम्ल, तिक्त, कषाय आदि,
2. आयुर्वेद का रस,
3. साहित्य का और इससे मिलता - झुलता रस,
4. मोक्ष या भक्ति का रस।

प्राकृतिक (पार्थिव) रस में रस का अर्थ है पदार्थ (वनस्पति) आदि को निचोड़कर निकाला हुआ द्रव, जिसमें किसी न किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस प्रसंग में रस का प्रयोग पदार्थ - सार और आस्वाद दोनों अर्थों में होता हैं– पदार्थ का सार (या सार - भूत द्रव) भी रस है और उसका आस्वाद भी रस है। आगे चलकर ये दोनों अर्थ स्वतंत्र रूप में विकसित हो गये। आयुर्वेद में रस का अर्थ है पारद - यह प्राकृतिक रस का ही अर्थ - विकास है। यहाँ पदार्थ - सार तो अभिप्रेत है ही, किन्तु उसके साथ उसके आस्वाद का नहीं वरन् गुण (शक्ति) को ग्रहण किया जाता है। पदार्थ - रस जहाँ आस्वाद - प्रधान है, वहाँ आयुर्वेद का रस शक्ति प्रधान है। आयुर्वेद में रस का एक और अर्थ है देह - धातु - अर्थात् शरीर में अन्तर्भूत ग्रंथियों का रस, जिस पर शरीर का विकास निर्भर रहता है, यहाँ भी शक्ति का ही प्राधान्य है। तीसरा प्रयोग है साहित्य का रस, जहाँ रस का अर्थ है -(1) काव्य - सौन्दर्य और (2) काव्यास्वाद तथा काव्यानंद भी। मोक्ष - रस या आत्म - रस ब्रह्मानंद अथवा आत्मानंद का वाचक है, भक्ति - रस का अर्थ भी, सिद्धांत - भेद होने पर, भी मूलत: यही है।

साहित्य की समीक्षा

शतला महाकाव्य के काव्य शाजीथ अध्ययन के आधार पर सामान्य रूप से प्रत्येक कवि का काव्य उसके जन्मजात संस्कार, अनुभव एवं ज्ञान - ध्यान का प्रतिफलन होता है। काव्य एवं उसके स्वरूप के विषय में चेतन एवं अवचेतन दोनों में कुछ - न - कुछ आदर्श अवश्य विद्यमान रहते हैं। उन काव्यादर्शों के प्रति कवि की धारणा ही काव्य - सिद्धान्त कहे जाते हैं। प्रो 0 आदेश जी ने "शकुन्तला" की रचना महाकाव्य के रूप में की है। उन्होंने किसी सिद्धान्त को लेकर काव्य की रचना नहीं की, किन्तु उनके काव्य के सूक्ष्म अध्ययन एवं अनुशीलन से भारतीय काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का उद्घाटन सहज ही किया जा सकता है।

प्रस्तुत शोध विषय के अन्तर्गत 'शकुन्तला' महाकाव्य के काव्यगत मूल्यों को निम्नलिखित परम्परागत शीर्षकों के अन्तर्गत ही विवेचन किया जाएगा:

1. रस सिद्धान्त 2. ध्वनि सिद्धान्त 3. अलंकार सिद्धान्त 4. वक्रोकित सिद्धान्त 5. रीति, वृत्ति और गुण।

1. रस सिद्धान्त–भारतीय काव्य शास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विवेच्य है - रस। रस काव्य की आत्मा हैं। समीक्षकों ने मूल रूप से इसके निकष पर ही कवियों का मूल्यांकन कर उनकी विभिन्न कोटियाँ निर्धारित की हैं।

रस शब्द आनन्द के अर्थ में प्रचलित है। आनन्द से रस का संबंध भारतीय मनीषियों ने जोड़ा है। भारतीय संस्कृति और साहित्य के चरम विकास से रस संबंधित है।

2. ध्वनि सिद्धान्त–भारतीय काव्यालोचन के इतिहास में काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि की प्रतिष्ठा का श्रेय नवीं शताब्दी के आनन्दवर्धन को प्राप्त हैं, लेकिन ध्वनि सिद्धान्त का समारंभ किसी अज्ञातनाम ध्वनिकार ने किया था, जिसके ग्रंथ "ध्वन्यालोक" की विभिन्न वृत्तियों को आनन्दवर्धन ने रचा था। इस महनीय ग्रंथ की कारिकाएँ अनाम ध्वनिवादी आचार्य ने लिखी थी, जबकि उसकी वृत्तियों और उदाहरणों का समायोजन आनन्दवर्धन ने किया। आनन्दवर्धन को यह श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होनें ध्वनि सिद्धान्त को सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित किया और "ध्वन्यालोक" के माध्यम से ध्वनि सिद्धान्त की मूलभूत स्थापनाओं की अवतारणा की। भारतीय साहित्य शास्त्र में आनंदवर्धन का वही स्थान है, जो ग्रीक साहित्यलोचन में लौंजाइनस का है। लौंजाइनस की तरह आनंदवर्धन ने भी सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी और मनुष्य की सर्वोच्च शक्ति के

प्रतिनिधि के रूप में कवि और उसकी प्रतिभा की अभ्यर्थना की। इस वैचारिकता का आधार यही है कि आनंदवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा का गौरव दिया और ध्वनि की एक विशिष्ट सत्ता की परिकल्पना की। अपने ध्वनि संबंधी चिन्तन का श्री गणेश करते हुए आनंदवर्धन ने लिखा है कि काव्य के आत्मभूत जिस तत्त्व को विद्वान ध्वनि कहते हुए आए हैं और कुछ लोग उसके अभाव, उसकी भुक्ति, उसके रहस्य को वाणी का अनिर्वचनीय विषय बताते हैं, उसी ध्वनि के स्वरूप को हम निरूपण करते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि आनन्दवर्धन के पहले से ध्वनि संबंधी चर्चा प्रारम्भ हो गई थी। भरत, भामह, दंडी, वामन और उद्‌भट के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में 6 वनि का विवेचन नहीं है, लेकिन इन्हीं अलंकारिकों के आधार पर आनंदवर्धन ने ध्वनि विरोधियों के तीन मतों का संकेतन किया है। आनन्दवर्धन के अनुसार अभाववादी, लक्षणावादी और अनिर्वचनीयतावादी – इन तीनों ही कोटियों के समीक्षकों ने ध्वनि को शोभादायक धर्म अथवा काव्य का केन्द्रीय तत्त्व नहीं माना है।

अनुसंधान विधि

रस परिभाषा – स्वरूप

भारतीय काव्य शास्त्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है – रस। श्रस शब्द रस् धातु और अच् (वा "ध") प्रत्यय से निष्पन्न है। संस्कृत में रस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है – "स्सते इति रसः" अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाए, वही रस है – अथवा "सते इति रसः" अर्थात् जो बहे, वह रस है। इस प्रकार रस की दो विशेषताएँ लक्षित होती हैं – आस्वाद्यत्व और द्रवत्व। हमारे आदि ग्रंथ वेद, उपनिषद और पुराणों में "स" शब्द का प्रयोग व्यवहारिक जीवन के लिए मिलता है काव्यानन्द के अर्थ में नहीं। तैतिरी योपनिषद की मान्यता है कि वह अर्थात् "ब्रह्म" निश्चय ही रस है और जो उस रस को प्राप्त करे उसे आनन्द की अनुभूति होती है

"सोवैरसः रसंचेवायं लब्ध्वा नन्दी भवति।" साहित्य में यही आनन्द रस है। दूसरे शब्दों में काव्य भावन से प्राप्त होने वाला आनंद रस है। रस की इस रूप में परिकल्पना भारतीय काव्य – शास्त्र की मौलिक देन है। रसवादी आचार्यों

ने रस को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए उसे अत्यंत उच्च स्थान प्रदान किया है। उन्होंने उसी काव्य को काव्य कहा है, जो रसात्मक है।

आचार्य भरत ने सर्वप्रथम नाट्य के संदर्भ में रस मत का उपस्थापन किया था। उन्होंने लिखा है 'विभावानुभावव्याभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः'। अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पति होती है। काव्य के पढ़ने या नाटक के देखने से कवि के मूल भावों तथा मूल पात्र के भावों का जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के साथ संयोग होता है, तब रस की व्यंजना होती है।

आगे चलकर यही व्यापक काव्य – सिद्धान्त रस – सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। आचार्य मम्मट ने रस की परिभाषा देते हुए कहा है

विभावानुभावास्तत्र कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।। व्यक्तः सतौर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।। अर्थात् ललना, उद्यानादि विभाव, कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभाव तथा हर्षादि व्यभिचारियों से परिपुष्ट रति आदि स्थायी भाव ही सहृदय में रस की संज्ञा ग्रहण कर लेता है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में श्रस अखंड, स्वप्रकाशआनन्दमय चिन्मये, वेदान्तर स्पर्श शून्य, ब्रह्म स्वाद – सहोदर और लोकोत्तर चमत्कार प्राण होता है।"

अतः कहा जा सकता है कि जब स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर अपनी परिपक्वावस्था को पहुँचता है, तब उसके आस्वादन से सहृदय जनों के हृदय में जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वही रस है।

उपर्युक्त परिभाषा के विवेचन से प्रकट होता है कि रस के चार प्रमुख अवयव हैं – स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी या संचारी भाव।

1. स्थायी भाव

जो भाव वासनात्मक होकर चित्त में चिरकाल तक अचंचल रहता है, उसे स्थायी भाव कहते हैं। विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के चित्ताकर्षक संयोग से स्थायी भाव रस रूप में व्यंजित होता है। स्थायी भावों की संख्या नौ मानी गई है। वे हैं – रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। ये ही स्थायी भाव परिपुष्ट होकर क्रमशःशृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत और शान्त रसों में परिणत हो जाते हैं।

2. विभाव

जिन कारणों के द्वारा रति आदि स्थायी भाव जागरूक होकर रस का रूप धारण कर लेते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। संक्षेप में भाव के जो कारण होते हैं, विभाव कहे जाते हैं।

विभाव के दो प्रकार होते हैं - 1) आलम्बन विभाव 2) उद्दीपन विभाव। प्रत्येक रस के आलम्बन और उद्दीपन भिन्न - भिन्न होते हैं। 1. आलम्बन विभाव–जिन पर आलम्बित होकर स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव के दो रूप हैं - आश्रय और आलम्बन। जिसके हृदय में रति आदि भावों का जागरण होता है, वे आश्रय हैं। जैसे नायक या नायिका तथा जिनके कारण रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं। वे आलम्बन हैं

3. उद्दीपन विभाव

उद्दीपन का शाब्दिक अर्थ है - उद्दीप्त करना, तेज करना। अर्थात् जो कारण रति आदि स्थायी भावों को उद्दीप्त करते हैं, उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। ये उद्दीप्न भी विभिन्न रसों में भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे - शृंगार रस में उद्यान, चाँदनी, षड्ऋतु आदि उद्दीपन हैं।

4. अनुभाव

भावोद्रेक होने पर आश्रय जो क्रियाएँ करता है, वही अनुभाव कहलाते हैं। अर्थात् जो भावों के कार्य हैं तथा जिनके द्वारा रति आदि भावों का ज्ञान होता है। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं - (1) कायिक (2) वाचिक (3) आहार्य (4) सात्त्विक"।

1. कायिक–कटाक्ष आदि कृत्रिम आंगिक चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं।

2. वाचिक–जब भाव वाणी से प्रकट होते हैं। उन्हें वाचिक अनुभाव कहते हैं।

3. आहाय–आरोपित या कृत्रिम वस्य रचना को आहार्य कहते हैं।

4. सात्त्विक–शरीर के अकृत्रिम अंग विकार को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं, यथा - कंप, स्वर - भंग, अश्रु आदि।

5. संचारी भाव–'संरचण शील अर्थात् अस्थिर मनोविकारों या चित्तवृत्तियों को संचारी भाव कहते हैं। ये भाव रस के उपयोगी होकर जल तंरग की भाँति उसमें संचरण करते हैं। इससे ये संचारी भाव कहे जाते हैं। इनका दूसरा नाम व्यभिचारी भाव है।" ये संचारी भाव भी रस की तरह ही ध्वनित या व्यंजित होते हैं। इनकी संख्या तैंतीस मानी गई है – निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, आलस्य, श्रम, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, स्वप्न, धृति, ब्रीड़ा, चपलता, हर्ष, विषाद, त्रस, आवेग, जड़ता, गर्व, औत्युक्य, निद्रा, अपस्मार, विबोध, अमर्श, उग्रता, अवहित्था, उन्माद, व्याधि, मति, वितर्क, मरण।

इन्ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के चिताकर्षक संमजन से स्थायी भाव रस – रूप में व्यंजित होता है। सुसंस्कृत सहृदय काव्यभावन के समय उससे तादात्म्य स्थापित कर अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभुति करता है।

रस का महत्व

भारतीय काव्य शास्त्र में रस का अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। आचार्य भरत ने तो यहाँ तक कहा है कि – 'न्ही रसाइते कश्चिदर्थः प्रवत्तते" अर्थात् कोई भी काव्य रसहीन नहीं होना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्श् कहकर रसमय वाक्य को काव्य कहना स्वीकार किया। इसी तरह पंडित राज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा।" ये काव्य के प्राण हैं। लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करना ही काव्य का चरम ध्येय है। देखा जाए तो भारतीय जीवन दर्शन रसवाद की आधारशिला पर ही प्रतिष्ठित है। "सो वै सः" रस को आनन्द स्वरूप ब्रह्मानन्द की उपलब्धि होती है। यह आनन्द ब्रह्मानन्द के समान ही रसास्वाद होता है – स्वतः ब्रह्मानन्द नहीं। इसीलिए इसे "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा जाता है। यह रस अलौकिक चमत्कार से युक्त होता है। वाग्वैदध्य की – वाक्चातुरी की अभिव्यंजना – कौशल की प्रधानता रहने पर भी रस ही काव्य का जीवन है।"

"सायन" की भूमिका में रस की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "रस अलौकिक चमत्कार कारी उस आनन्द–विशेष का बोधक है, जिसकी अनुभूति सहृदय के हृदय को दुत, मन को तन्मय, हृदय व्यापारों को एकतान, नेत्रों को जलाप्लुत, शरीर को पुलकित और वचन – रचना को गद्गद् रखने की क्षमता रखती है। यही आनन्द काव्य को उपादेय है और इसी की जागृति वाग्मय के अन्य प्रकारों से विलक्षण काव्य नामक पदार्थ की प्राण – प्रतिष्ठा करती है।"

वस्तुत: रस का महत्त्व अन्यतम है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक रस को निरन्तर मान्यता मिली है। ध्वनिकार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने भी काव्य में रस की उपयोगिता सिद्ध करते हुए लिखा हैं–

दृष्टपूर्वा अपि यर्था: काव्ये रस परिग्रहात्। सर्वेनवा इवाभवन्ति मधुमास इव दुआ:।। अर्थात् जिस प्रकार मधुमास में वृक्ष अधिक चित्ताकर्षक और नवीन दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार काव्य में रस का आश्रय ग्रहण कर लेने से पूर्वदृष्ट अर्थ भी नवीन और सौम्य रूप धारण कर लेते हैं। न केवल रसवादी आचार्यो ने, बल्कि अन्य सम्प्रदाय वालों ने भी रस की महत्ता की अवमानना नहीं की है। अलंकार वादी आचार्य भामह रस विरोधी थे, पर उन्होंने रस का अन्तर्भाव "सवत", अलंकार में कर अप्रत्यक्ष रूप से रस को मान्यता दी है। इसी तरह, दंडी ने भी, "कामे सर्वोप्यलंकारों रसं अर्थे निषिचति" कहकर रस के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है। अभिप्राय यह है कि रस को प्राय: सभी काव्य सिद्धान्तों में स्वीकृति मिली है। रीति में कांति गुण दीप्तिरसत्व है। वक्रोक्ति में प्रबन्ध – वक्रता आदि के प्रसंग में रसमयता की ओर ही संकेत किया गया है। ध्वनि में रस ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ ध्वनि है तथा औचित्य में रसौचित्य ही काव्य का प्राण है।"

आचार्य मम्मट ने अपने काव्य के लक्षण में यद्यपि 'दोषरहित' और गुणयुक्त' शब्द और अर्थ को प्रधानता दी है, तथापि उन्होंने जिन गुणों और दोषों का विवेचन किया है, वह रसों के ही संबंध में है। गुणों को उन्होंने रस के "उत्कर्षहेतव:" कहा है।" इससे स्पष्ट है कि मम्मट ने रस को ही काव्य की आत्मा माना है।

भारतीय काव्य शास्त्र में पांच मुख्य संप्रदाय अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस हैं। इन्हें काव्य के शरीरवादी और आत्मवादी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें प्रथम तीन – अलंकार, रीति और वक्रोक्ति काव्य को शरीरवादी रूप तथा अन्तिम दो – ध्वनि और रस – आत्मवादी रूप हैं।

अलंकार, रीति और वक्रोक्ति अपने व्यापक रूप में अभिव्यंजना शैली में अन्तर्मुक्त किए जा सकते हैं। अन्तिम दोनों का समन्वय रस सिद्धान्त में किया जा सकता है। क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त का आत्म पक्ष रस – सिद्धान्त में तथा रचना – विधान सम्बन्धी औचित्य अभिव्यंजना पक्ष में समाहित किया जा सकता है। इस प्रकार काव्य के दो प्रमुख पक्ष हुए हैं – शरीरवादी या बाह्य पक्ष तथा आत्मवादी या अंतरण पक्ष। काव्य में दोनों का महत्त्व है। प्राचीन आचार्यों ने एक

– दूसरे के मत या सम्प्रदाय का विरोध करते हुए भी उसकी महता का किसी – न – किसी रूप में प्रतिपादन और समर्थन अवश्य किया है। ऐसा इसलिए कि आरम्भ में आचार्यों में समन्वय का आग्रह नहीं था, किंतु धीरे – धीरे काव्य के सब तत्त्वों में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता अनुभूत हुई। आचार्य विश्वनाथ ने इन सब का समन्वय करते हुए लिखा है – शब्द और अर्थ काव्य – पुरुष के शरीर हैं, रस और भावादि उसकी आत्मा, शौर्य आदि के सदृश माधुर्य, ओज और प्रसाद उसके गुण हैं। कणत्व आदि के समान श्रुति कटुत्व आदि दोष हैं। वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर के भिन्न – भिन्न अंगों का गठन है तथा उपमादि अलंकार कटक, कुंडालादि के तुल्य होते हैं।

काव्य में रस का महत्त्व अक्षुण्ण है। रस के ही कारण एक ओर तो भावाभिव्यक्ति में कोमलता और सरसता रहती है और दूसरी ओर सहृदय के हृदय को आकाश टकराने की प्रबल क्षमता होती है। दूसरे शब्दों में, रस सहृदय – संवेग होता है, काव्य – विषय चाहे सुखात्मक हो या दुखात्मक, वह ऐसे परिष्कृत एवं सुरूचिपूर्ण ढंग से उपस्थित होता है कि अनुभूति का स्वरूप आनन्दमय हो जाता है। यह भाव सर्व – साधारण तथा समस्त सम्बन्धित होता है। जब इस अपरिमित भाव का उन्मेष होता है, तो सुसंस्कृत सहृदय उससे तादात्म्य स्थापित कर ही लेता है तथा उसे एक विशेष तरह की आह्लादमय अनुभूति होती है। रस ही एक ऐसा आयाम है, जिसमें कवि, काव्य एवं सहृदय तीनों का महत्त्व है। कवि की विषयानुभूति उपयुक्त विशेष प्रक्रिया द्वारा ही सहज संवेद्य बन जाती है। अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के सम्यक् संयोजन से स्थायी भाव रस रूप में परिणत हो जाता है।

रस के भेद

स्थायी भाव ही अपनी परिपक्वावस्था में रस है। आचार्यों ने नौ स्थायी भाव माने हैं और उन्हीं के आधार पर नव रस की कल्पना की गई है। यथा, शृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत और शान्त कतिपय आचार्यों ने दसवा रस "वात्सल" को माना है। जिसका स्थायी भाव 'वात्सल्य है। उन आचार्यों में महाराजा भोज और आचार्य विश्वनाथ प्रभु उसी तरह प्रेयस अलंकार से भक्ति रस की उद्‌भावना की गई है। अब तक शान्त रस में ही भक्ति का अन्तर्भाव किया जाता रहा था। पर भक्ति के व्यापक और परिपुष्ट चित्रण एवं उनके स्वतंत्र स्वाद्यत्व को देखते हुए उसे भी एक पृथक रस मान लिया है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य रूप गोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रस की पृथकता का प्रबल समर्थन किया।

आचार्य रूप गोस्वामी ने भक्ति के एक प्रमुख तत्त्व "माधुर्य के आधार पर मधुर रस की कल्पना की। 'मधुर रस' कुछ नया नहीं है। शृंगार रस और मधुर रस में अपूर्व साम्य है। कदाचित् इसीलिए मधुर की व्यंजना अलौकिक शृंगार के रूप में की जाती रही।

अत: मुख्य तौर से रस नौ ही हैं। इसलिए हम "आदेश" के महाकाव्य शकुन्तला का अध्ययन आधारभूत नौ रसों के केन्द्र में मानकर ही करेंगे। शकुन्तला महाकाव्य में रस।

आदेश जी ने अपने महाकाव्य "शकुन्तला" को शृंगार रस प्रधान बनाया है। किंतु ऐसा नहीं है कि इसमें अन्य नहीं आए हैं। स्वयं "आदेश" जी का कथन है - "शकुन्तला शृंगार रस प्रधान काव्य है। एतदर्थ इसमें शृंगार रस के प्राय: समस्त अंगों का परिपाक करने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। संयोग - वियोग की अवस्थाएँ, नख - शिख, वर्णन, अभिसार, मान - मनुहार, नायिका - भेद, षड्ऋतु वर्णन आदि के साथ - साथ शेष सभी रसों की झलक इसमें मिलेगी। रसानुभूति की दिशा में भाव - विभाव - अनुभाव एवं संचारी भावों की अभिव्यक्ति भी दृश्यमान होगी। वीर, शान्त एवं शृंगार रस का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध माना जाता है। इस काव्य का शुभारम्भ ही एक निर्जन आश्रम के शान्त वातावरण में वीर रस से होता है। इस कृति में शृंगार के साथ - साथ वात्सल्य तथा निर्वेद को भी पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया गया है। प्रथम सर्ग में ही वीर रस से सम्बन्धित भयानक, रौद्र, वीभत्स आदि रसों का परिपाक भी इसमें प्राप्त होगा। अन्य रसों के दर्शन भी इसमें यत्र - तत्र होंगे। इस प्रकार यह कहना गलत न होगा कि शकुन्तला महाकाव्य में यत्र - तत्र सभी रसों का समायोजन किया गया होगा। किंतु इसका अंगीरस शृंगार रस ही होगा।

उद्देश्य–

(1) महाकाव्य का उद्देश्य धर्मार्थ, काममोक्ष की प्राप्ति मानी गई है।

(2) इसका विश्लेषण करें तो हम देखते हैं कि नायक या तो परोपकार के कार्य या सिद्धान्त की रक्षा के लिए अपने जीवन को व्यतीत करता है या विजय द्वारा किसी समृद्धि को प्राप्त करता है।

(3) इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए संघर्ष, साधना, चरित्र विकास या अन्य उच्च गुण आवश्यक हैं।
(4) इनका चित्रण विभिन्न परिस्थियितों की पृष्ठभूमि में किया जाता है।
(5) आधुनिक महाकाव्यों में वर्तमान जीवन की समस्याओं का भी चित्रण व समाधान होना चाहिए।

उपसंहार

साहित्य कार नवसृष्टि का रचयिता होता है। प्रो 0 हरिशंकर आदेश प्रवासी महाकवि हैं। आप चार दशकों से अधिक समय से विदेश में रहकर साहित्य सृजन कर रहे हैं। इनकी लेखनी से अनुराग, शकुंतला, महारानी दमयन्ती और निर्वाण चार महाकाव्य के साथ शताधिक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। कवि आदेश द्वारा रचित शकुन्तला महाकाव्य एक श्रेष्ठ रचना है। जिसका प्रवासी भारतीय महाकाव्यों में अग्रणी स्थान है। इसका सृजन कवि ने भारतीय काव्य - शास्त्रीय सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर किया है। इस महाकाव्य में लगभग सभी काव्य - सिद्धान्तों का निर्वहन हुआ है। भारतीय काव्य - शास्त्र के मुख्य सिद्धान्त रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति और रीति, वृत्ति, गुण हैं। भारतीय काव्य - शास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण रस सिद्धान्त हैं। रस ही काव्य की आत्मा माना गया है। काव्य - शास्त्रीय परम्परा में ध्वनि सिद्धान्त का भी विशेष महत्त्व है। आनन्दवर्धन ने तो इसकी स्थापना करते हुए इसे काव्य की आत्मा माना है। काव्य की आत्मा के संदर्भ में जिन सिद्धान्तों में विवाद रहा उनमें अलंकार सिद्धान्त का नाम भी है। आचार्य भामह ने तो अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना है। इसी दिशा में आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना की है, उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। काव्य की आत्मा के विवाद को एक नई दिशा आचार्य वामन ने यह कहकर दी कि काव्य में रीति का होना आवश्यक है। फिर गुण और वृत्ति पर भी आचार्यों ने बल दिया, किन्तु इन विवादों के बीच में रस को काव्य की आत्मा मान लिया गया।

रस का स्वरूप

सुख-दुखात्मक किसी भी प्रकार के दृश्यावलोकन, काव्य या साहित्य के पठन-श्रवण से द्रवीभूत होकर पाठक एवं श्रोता के मन में जो एक विशेष प्रकार की अनिर्वचनीयता, अदृश्य या अमूर्त अनुभूति-सी स्वतः प्रकाशित होती है, उसी

का नाम रस है। उसकी अनुभूति के क्षणों में व्यक्ति की मनोदशा और चेहरे के हाव-भाव में एक प्रकार की स्वाभाविकता आ जाती है। उस स्थिति में मुख से अनायास हाय!, ओह!, आह!, अरे! जैसे शब्द निकलते है, जो रस के स्वरूप को व्यंजित करते है। रस के स्वरूप के संदर्भ में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतों को निम्नानुसार देखा जा सकता है -

भारतीय दृष्टी

भारतीय साहित्यशास्त्र के अंतर्गत काव्य की आत्मा की खोज में आचार्यो ने जिन सिद्धांतों की प्रतिस्थापना की है, उनमें रससिद्धांत आवश्यक माना जाता है। इसका सर्वप्रथम विवेचन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। अत: रस सिद्धांत के प्रवर्तक के रूप में आचार्य भरतमुनि को देखा जा सकता है। भरतमुनि के द्वारा रस के स्वरूप को निर्धारित करनेवाला सूत्र है -

''विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्ति''

अर्थात् विभाव,अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पति होती है। इन तीनों भावों के कारण स्थायीभाव जाग्रत होता है, जो रसरूप में परिणत होता है। अत: रस की परिभाषा हुई - विभाव,अनुभाव व व्यभिचारी भावों के संयोग से जाग्रत स्थायीभाव रस या रसदशा कहलाता है।

आचार्य भरत के परवर्ती आचार्यों ने रस के स्वरूप को लेकर अपने-अपने मत रखने की चेष्टा की है। आ.अभिनवगुप्त ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया है। उनकी मान्यता है कि आनंद आत्मा का विषय है। विभावादि के माध्यम से वह काव्य या नाटक का विषय बनता है। काव्य नाट्यादि के परिशीलन से हृदय की संवेदना आत्मस्थित हो जाती है। आत्मा आनंद का अनुभव करती है।

आ.विश्वनाथ रस को सत्वोंद्रेक से अखंड स्वप्रकाश और चिन्मय आनंद स्वरूप मानते हैं। ब्रम्ह के अखंड रूप के समान रस का स्वरूप भी वे अखंड मानते हुए उसे स्वप्रकाशित तत्त्व कहते हैं।

पंडित जगन्नाथ के अनुसार जब चेतना का आवरण भंग हो जाता है तब रति आदि स्थायीभाव रस कहलाते है। जगन्नाथ भी आनंद में चेतना की जाग्रती को रसरूप कहते है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत रस के स्वरूप को निम्न रूप से समझा जा सकता है-

1. रस सत्वोंद्रेक है–मनुष्य चित्त की तीन अवस्थाएं होती है, जो रजोगुण,तमोगुण व सतोगुण कहलाते हैं। मनुष्य चित्त की सबसे शुद्ध अवस्था सतगुण में होती है। यदि मनुष्य सांसारिक मोह, क्रोध,लोभ से ऊपर उठकर काव्य का आस्वादन करता है, तब वह रस की अनुभूति करता है। जिसमें सतगुण प्रमुख होता है। अर्थात रस का अविर्भाव सत्वोंद्रेक की स्थिति में होता है।

2. रस की अखंडता–रस वह स्थायी भाव होता है, जिसका संयोग विभाव, अनुभाव, संचारी भावों के समन्वित रूप के साथ हो, न की इनमें से किसी एक या दूसरे के बिना रस पूर्ण होता है। इस स्थिति में इन भावों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। रस न अधिक हो सकता है,न कम। इसी कारण वह स्वयंपूर्ण है। जब भी पाठक या श्रोता रस का आस्वादन करते हैं तो उसे प्राप्त होनेवाला रस अखंड होता है।

3. रस स्वयंप्रकाशानंद–जिस प्रकार सूर्य दिखाने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार रस भी स्वयं प्रकाशित है। जिस प्रकार ब्रम्ह स्वयं प्रकाशमान तत्त्व है। उसी प्रकार रस भी स्वयं प्रकाशानंद है। रस की व्युत्पत्ति अचानक नहीं होती। वह एक नित्य तत्त्व है। रसानुभूति आत्मचेतना से प्रकाशित होती है।

4. रस आस्वाद रूप–जिस रूप में रस आस्वादित किया जाता है। उससे भिन्न वह किसी भी प्रकार की अनुभूति नहीं है, क्योंकि सहृदय की स्वयं की अनुभूति ही रस के रूप में परिवर्तित होती है। एक सहृदय की अनुभूति दूसरे की अनुभूति में न तो सहायक सिद्ध होती है, न उसे प्रभावित कर सकती है।

5. रस चिन्मय स्वरूप–रस में चेतनता प्रधान होती है। रस शुद्धचेतन अर्थात आत्मा के समान सचेतन अथवा प्राणवान आनंद है। वह निद्रा, मद्यपान आदि से उत्पन्न लौकिक आनदं के समान जडआनंद नहीं है। रस का संबंध आत्मा की शुद्धता से है।

6. रस ब्रम्हानंदसगोदर रूप–कुछ विद्वान रस को ब्रम्हस्वाद तो नहीं पर उसका सगोदर कहते हैं। ब्रम्हस्वाद में जिस प्रकार अलौकिक आनंद की अनुभूति हुआ करती है। कुछ उसी प्रकार रसानुभूति भी अलौकिक आनंद प्रदान करती है। अंतर यही है कि ब्रम्हस्वाद में लौकिक विषयों का तिरोभाव हो जाता है। पर रसास्वाद में ऐसा नहीं होता।

7. रस लोकोत्तर चमत्कार प्राण–चित्त का विकासजन्य आनंद ही रस का प्राण है। किंतु लोकोत्तर रस कुछ ऐसा ही है। रस का आस्वाद लौकिक तो है फिर भी लौकिक आनंदों से वह सर्वोपरि है।

8. ज्ञानरहित–रस के स्वरूप के बारे में कहा जाता है कि वह वेदोत्तर स्पर्शशून्य है। रस के आस्वाद के लिए किसी प्रकार के वेद या ज्ञान के स्पर्श की आवश्यकता नहीं है। रस प्राप्ति की स्थिति में इस प्रकार के सभी वस्तुओं का एवं उसके ज्ञान का विस्मरण हो जाता है। ओर इतनी तन्मयता आ जाती है कि सहृदय की आत्म भी रस को प्रतीत करती है।

9. रस की अनिर्वचनीयता–रस से प्राप्त होनेवाला आनंद लौकिक या आध्यात्मिक आनंद से दूर होता है। सहजानुभूति का आनंद भी इसी कोटि में आता है, अत: कई बार रस से प्राप्त होनेवाला आनंद निर्वचनीय अर्थात शब्दों की सीमा से परे देखा जा सकता है।

अत: कहा जा सकता है कि काव्य रस किसी फल का इंद्रियजन्य रस नहीं है। वस्तुत: यह उदात्त, स्पृहनीय, भावनिक, मानसिक आनंद है, जो दीर्घकालीन होता है और सहृदयों को प्राप्त होता है।

5

भरतमुनि

भरतमुनि 'नाट्यशास्त्र' के प्रसिद्ध प्रणेता हुए हैं। इनका समय विवादास्पद हैं। इन्हें 500 ई.पू. 100 ई सन् के बीच किसी समय का माना जाता है। भरत बड़े प्रतिभाशाली थे। इतना स्पष्ट है कि भरतमुनि रचित नाट्यशास्त्र से परिचय था। इनका 'नाट्यशास्त्र' भारतीय नाट्य और काव्यशास्त्र का आदिग्रन्थ है। इसमें नाट्यशास्त्र, संगीत-शास्त्र, छंदशास्त्र, अलंकार, रस आदि सभी का सांगोपांग प्रतिपादन किया गया है। 'भारतीय नाट्यशास्त्र' अपने विषय का आधारभूत ग्रन्थ माना जाता है। कहा गया है कि भरतमुनि रचित प्रथम नाटक का अभिनय, जिसका कथानक 'देवासुर संग्राम' था, देवों की विजय के बाद इन्द्र की सभा में हुआ था। विद्वानों का मत है कि भरतमुनि रचित पूरा नाट्यशास्त्र अब उपलब्ध नहीं है। जिस रूप में वह उपलब्ध है, उसमें लोग काफी क्षेपक बताते हैं।

नाटयं भिन्न-चेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधन्म' अर्थात् - जगत् में लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है, ऐसे सभी लोगों को प्रसन्न करने वाला यदि कुछ है तो वह अधिकांशतः 'नाट्य' है। ऋग्वेद में सरमा पणी, यम यमी, अगस्त्य लोपामुद्रा, पुरुरवा उर्वशी, आदि अनेक संवाद सूक्तों में नाटकों के बीज हों, यह सम्भव है। भरत नाट्य शास्त्र ऐसी दंत कथा है कि त्रेता युग में लोग दुःख, आपत्ति से पीड़ित हो रहे थे। इन्द्र की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने चारों वर्णों और विशेष रूप से शूद्रों के मनोरंजन और अलौकिक आनंद के लिए 'नाट्यवेद' नामक पांचवें वेद का निर्माण किया। इस वेद का निर्माण ऋग्वेद में से पाठ्य वस्तु,

सामवेद से गान, यजुर्वेद में से अभिनय और अथर्ववेद में से रस लेकर किया गया। भरतमुनि को उसका प्रयोग करने का कार्य सौंपा गया। भरतमुनि ने 'नाट्य शास्त्र' की रचना की और अपने पुत्रों को पढ़ाया। इस दंत कथा से इतना तो अवश्य फलित होता है कि भरतमुनि संस्कृत नाट्यशास्त्र के आद्य प्रवर्तक हैं।

नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

कालिदास और भास नाटयशास्त्र के अच्छे जानकर थे। पाणिनी के पहले कृशाश्व और शिलाली के नाट्यसूत्र और उनके पहले भरत का मूल ग्रंथ मानें तो ई.स. पूर्व 8वीं से 10वीं शताब्दी का रचनाकाल माना जायेगा। संक्षेप में भरतनाट्य शास्त्र ई.पूर्व के कई शताब्दी पहले रचा गया था।

नाट्यशास्त्र का स्वरूप

अभिनव गुप्त के मतानुसार नाट्य शास्त्र के 36 अध्याय हैं। इसमें कुल 4426 श्लोक और गद्यभाग हैं। नाट्यशास्त्र की आवृतियां निर्णय सागर प्रेस, चौखम्बा संस्कृत ग्रंथमाला (गायकवाड़ प्राच्य विद्यामाला) द्वारा प्रकाशित हुई है। गुजराती के कवि नथुराम सुंदरजी की 'नाट्य शास्त्र' पुस्तक है, जिसमें नाट्य शास्त्र का सार दिया गया है।

नाट्यशास्त्र के टीकाकार

भरत के हाल ही में उपलब्ध नाट्यशास्त्र पर सर्वाधिक प्रमाणिक और विद्वत्तापूर्ण 'अभिनव भारती' टीका के कर्ता अभिनव गुप्त हैं। यह टीका ई.सन 1013 में लिखी गयी थी। अभिनव गुप्त के पूर्व नाट्यशास्त्र पर उद्‌भट त्लोल्लट, शंकुक, कीर्तिधर, भट्टनायक आदि ने टीकाएं लिखी थी। कालिदास, बाण, श्रीहर्ष, भवभूति आदि संस्कृत नाट्यकार नाट्य शास्त्र को सर्वप्रमाण मूर्धन्य मानते थे।

नाट्यशास्त्र का विषय

नाट्य शास्त्र में नाट्य शास्त्र से संबंधित सभी विषयों का आवश्यकतानुसार विस्तार के साथ अथवा संक्षेप में निरुपण किया गया है। विषय-वस्तु, पात्र, प्रेक्षागृह, रस, वृति, अभिनय, भाषा, नृत्य, गीत, वाद्य, पात्रों के परिधान, प्रयोग के समय की जाने वाली धार्मिक क्रिया, नाटक के अलग-अलग वर्ग, भाव,

शैली, सूत्रधार, विदूषक, गणिका, गणिका, नायिका आदि पात्रों में किस प्रकार की कुशलता अपेक्षित है, आदि नाटक से संबंधित सभी वस्तुओं का विचार किया गया है। नाट्यशास्त्र ने जिस तरह से और जैसा निरुपण नाट्य स्वरूप का किया है, उसे देखते हुए यदि 'न भूतो न भविष्यति' कहें तो उचित ही है, क्योंकि ऐसा निरुपण पिछले 2000 वर्षों में किसी ने नहीं किया।

नाटक के कतिपय लक्षण

1. दु:खांत नाट्क नहीं होते।
2. गद्यात्मक संवादों के साथ भाव प्रधान श्लोक आते हैं।
3. नायक, राजा, ब्राह्मण आदि पात्र संस्कृत बोलते हैं, जबकि स्त्री और हल्के पात्र प्राकृत बोलते हैं।
4. आनंद और शोक दोंनों का मिश्रण होता है। विदूषक अपने हाव-भाव और मूर्खता से दर्शकों का मनोरंजमन करता है।
5. नाटक में मरण का दृश्य नहीं दिखाया जाता।
6. किसी भी प्रकार की असम्भव क्रिया - दांत से काटना, खुजलाना, चूमना, खाना, सोना आदि मंच पर नहीं दर्शायी जाती।
7. ऐतिहासिक, पौराणिक कथाओं में से नाटक की वस्तु लेकर आवश्यक फेरबदल किया जाता है।
8. प्रेम अधिकांश नाटकों का विषय होता है।
9. नाटक के अंकों की संख्या छोटी बड़ी होती है। पात्रों की संख्या की कोई मर्यादा नहीं होती।
10. प्रकृति को बहुत महत्त्व दिया जाता है।

भरतमुनि कहते हैं - नाट्य तो समग्र त्रिलोक के भाव का अनुकीर्तन है। नाटक का उद्देश्य दु:ख से पीड़ित, थके, शोक से पीड़ित लोगों और तपस्वियों को उचित समय पर विश्रांति देना है। नाटक में सभी कलाओं का संगम होता है। भरतमुनि कहते हैं कि प्रेक्षकों के मनोरंजन के साथ ही उनके बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास में भी नाटक निमित्त बनें।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से लोकमंथन

संस्कृत के आचार्यों और उनके योगदान पर जब भी विमर्श होता है तब भरत मुनि को कोई भूला दे ऐसा संभव नहीं। स्वभाविक भी है, व्यक्ति की

पहचान उसके कर्म से होती है। एक राजा जब तक राजा है, तब तक कि वह उस पद पर विराजमान है, किन्तु उसके बाद सिर्फ उसके श्रेष्ठ कर्म ही उसे देह से मुक्त करते हुए सदैव जीवित रखते हैं। इस दृष्टि से भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' की विवेचना समीचीन है। क्योंकि नाट्य परम्परा की गहराई में जाने पर उनका ही सर्वप्रथम रचित ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र'मिलता है, इसलिए ही वे नाटक, फिल्म, प्रहर्सन इत्यादि कला से संबंधित जितने भी प्रकार हैं, उनके आदि आचार्य कहलाते हैं।

भरत मुनि कहते हैं, ''न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला। नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येडस्मिन यन्न दृश्यते।।'' अर्थात् न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प, न कोई ऐसी विद्या, न कला, न योग और नहीं कोई कर्म, जो नाट्य में न पाया जाता हो। यानि की जो भी सांसारिक विधाएँ हैं वे सभी कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में नाटक का ही अंग है। सही भी है नाटक का प्रधान तत्व है भावना और दूसरा प्रमुख तत्व विचार, दोनों का उचित समन्वय ही किसी नाटक, फिल्म, प्रहर्सन को जन्म देता है।

भरतमुनि के इस श्लोक और व्याख्या को यदि प्रत्येक मनुष्य के दैनन्दिन जीवन से जोड़कर देखें तो स्थति बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। शायद, इसीलिए आगे हुए भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यकारों को परस्पर कहना पड़ा कि व्यक्तित्त्व की पूर्णता के लिए थियेटर का ज्ञान आवश्यक है। जीवन एक रंगमंच है, जिसमें हम सभी अलग-अलग समय में आते हैं, अपना-अपना किरदार निभाते हैं और फिर चले जाते हैं।

वस्तुतः होता भी यही है, हम सभी नित्यप्रति अनेक भूमिकाओं का निर्वहन करते हैं। प्रत्येक रिश्ते में नाटकीयता का पुट कहीं न कहीं रहता है। पति-पत्नि, पिता-पुत्र,माता-पुत्रि, भाई-बहन या अन्य किसी रिश्तें को ले लें। यदि इनमें से नाटकीयता को समाप्त कर दिया जाए तो जीवन नीरस हो जाएगा। क्योंकि नाटकीयता वह तत्व है, जो जीवन के नीरस प्रसंगों को भी रोचक बना देता है। प्यार में, गुस्से में, उत्साह और उमंग में हमारी भाव भंगिमाएँ सब कुछ कह देती हैं। इसी तरह स्वर को कभी कोमल, कभी कर्कश बनाकर हम अपने शब्दों का वजन बढ़ाते और कमतर करते हैं। वास्तव में यही सब तो है थिएटर। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का यही रंगमंच उसे सिखाता है कि कैसे वह हँसे, रोए और अपनी अभिव्यक्ति को खुलकर आसमानों तक ऊंचाईयां प्रदान करे।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का महत्व इस बात से पता चलता है कि आगे हुए उद्भट आचार्यों में भट्टोद्भट, भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कीर्तिधर, राहुल, भट्टयंत्र और हर्षवार्तिक सहित प्रायः सभी प्रमुख विद्वानों ने नाट्यशास्त्र पर टीकाएँ लिखीं। जहां तक कि विदेशी विद्वानों ने भी नाट्यशास्त्र की खण्डित प्रतियाँ लेकर प्रकाशित करने का अदम्य प्रयास किया, इनमें फेड्रिक हाल, जर्मन विद्वान हेमान, फ्रांसीसी विद्वान रैग्नो एवं इनके शिष्य ग्रौसे जैसे विद्वानों के नाम गिनाए जा सकते हैं।

भरत के नाट्यशास्त्र में लोक का महत्व अंगीकार करते हुए जिस समग्रता से नाटकों के प्रकार, उनके स्वरूप, उनकी कथावस्तु, कथावस्तु के विभिन्न अंग और चरण तथा उनके सृजन-सम्बंधी विधि-निषेध, नायक-भेद और उनके मानक, नायिका तथा अन्य पात्रों के मानक का वर्णन किया गया है, वह हमारी परम्परागत धरोहर है। वे रंगमंच (मंडप) और नेपथ्य की संरचना, नृत्य के प्रकार, उनकी तकनीक, उनके अंग-संचालन की विस्तृत और सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत करते हैं। उनके नाट्यशास्त्र में बारीक से बारीक भावों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न आंगिक मुद्राएँ और भंगिमाएँ, भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (या संचारी) भाव के संयोग से स्थाई भाव के रस की निष्पत्ति, रस के प्रकार, उनके लक्षण, उनके प्रभाव की विशद व्याख्या है। यहां तक कि संगीत के सात स्वर, उनके क्रम उनकी मूर्छनाएँ, उनके मिश्रण तथा प्रयोग के मानक, वाद्य और गायन की विधियाँ जैसे अनेक विषयों का विवेचन जो वे अपने इस ग्रंथ में प्रस्तुत करते हैं ऐसा अन्यत्र कहीं ओर देखने को नहीं मिलता है।

भरत के नाट्य शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक की सफलता केवल लेखक की प्रतिभा पर आधारित नहीं होती, बल्कि विभिन्न कलाओं और कलाकारों के सम्यक सम्मलिन से होती है। यह ठीक उसी प्रकार है, जैसे किसी व्यक्ति का जन्म अत्यधिक विषम परिस्थितियों में हो, किंतु वह अपने कर्त्तव्य का निर्वहन पूर्णतः समर्पण के साथ करे तो वह व्यक्ति अन्य लोगों के सहयोग से एक दिन उस श्रेष्ठता को प्राप्त कर ही लेता है, जिसको पाने की आशा सभी करते हैं।

यही बात हम किसी राष्ट्र के संदर्भ में समझ सकते हैं। भारत सदियों से श्रेष्ठता को धारण करते हुए सतत अपने कालक्रम में आगे की ओर बढ़ रहा है, अतीत में उसने वे दिन भी देखे हैं, जब दुनियाभर से ज्ञान पिपासु अपनी ज्ञान की अभिप्सा की शांति एवं पूर्ति के लिए उसके पास भागे चले आते थे। व्यापार

के लिए भी भारत दुनिया का केंद्र था, फिर वह समय भी भारत ने देखा कि कैसे देखते ही देखते उसे विखण्डित करने के प्रयास किए गए और एक राष्ट्र से कई राज्यों का उदय हो गया।

वस्तुतः सभ्यता और संस्कृति एक होने के उपरान्त भी यदि विचारों में भिन्नता हो जाए और उपासना पद्धति का अंतर आ जाए तो कितना भी सघन और संगठित राष्ट्र हो उसे भी बिखरने में देर नहीं लगती। यह बात आज भारत के सामने प्रत्यक्ष है। इस चुनौती का सामना करने के लिए आगे अब भारत क्या करे? यह एक यक्ष प्रश्न खड़ा हुआ है। तब निष्कर्षतः इसका श्रेष्ठ समाधान यही है कि यहां ऐसा कुछ निरंतर होता रहे, जिससे भारत अपने पूर्व वैभव को भी प्राप्त कर ले और उसे भविष्य में विखण्डन का दर्द कभी न सहना पड़े। इसके लिए भारत को अपनी ज्ञान, परम्परा, आचार-विचार, लोक-संवाद और शास्त्रार्थ जैसी अत्यन्त महत्वपूर्ण धरोहरों का विस्तार और इन पर केंद्रीत विमर्श के आयोजन करते रहना होंगा।

वस्तुतः मध्यप्रदेश की राजधानी भोपाल में 12 से 14 नवम्बर तक आयोजित हो रहा लोकमंथन उसी विमर्श के आयोजन का एक हिस्सा है, जो 'राष्ट्र सर्वोपरि' की सघन भावना से ओत-प्रोत है। इसके माध्यम से देश के सभी कलाओं, विधाओं के बुद्धिजीवी, चिन्तक और शोधार्थी एक मंच पर अपने विचार साझा करने जा रहे हैं। इसका परिणाम यह होगा कि देश के वर्तमान मुद्दों पर विचार-विमर्श और मनन-चिन्तन के होने से भारत के उत्कर्ष के सभी आयाम विस्तार लेंगे। यह तीन दिवसीय विमर्श अपनी व्यापक वैचारिकता के कारण हमारे राष्ट्र भारत को पुनः अपने वैभव को प्राप्त करने की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ाने में कारगर सिद्ध होगा, आयोजन और उसकी सफलता से यही आशा की जा रही है।

मयंक चतुर्वेदी

मयंक चतुर्वेदी मूलतः ग्वालियर, म.प्र. में जन्में और वहीं से इन्होंने पत्रकारिता की विधिवत शुरूआत दैनिक जागरण से की। 11 वर्षों से पत्रकारिता में सक्रिय मयंक चतुर्वेदी ने जीवाजी विश्वविद्यालय से पत्रकारिता में डिप्लोमा करने के साथ हिन्दी साहित्य में स्नातकोत्तर, एम.फिल तथा पी-एच.डी. तक अध्ययन किया है। कुछ समय शासकीय महाविद्यालय में हिन्दी विषय के सहायक प्राध्यापक भी रहे, साथ ही सिविल सेवा की तैयारी करने वाले

विद्यार्थियों को भी मार्गदर्शन प्रदान किया। राष्ट्रवादी सोच रखने वाले मयंक चतुर्वेदी पांचजन्य जैसे राष्ट्रीय साप्ताहिक, दैनिक स्वदेश से भी जुड़े हुए हैं। राष्ट्रीय मुद्दों पर लिखना ही इनकी फितरत है। सम्प्रति–मयंक चतुर्वेदी हिन्दुस्थान समाचार, बहुभाषी न्यूज एजेंसी के मध्यप्रदेश ब्यूरो प्रमुख हैं।

See author's posts

Share this:

Click to share on Facebook (Opens in new window)Click to share on Twitter (Opens in new window)Click to share on LinkedIn (Opens in new window)Click to share on Reddit (Opens in new window)Click to share on Pinterest (Opens in new window)Click to share on Tumblr (Opens in new window)Click to share on Skype (Opens in new window)Click to email this to a friend (Opens in new window)Click to print (Opens in new window)

Like this:

Related

श्री राम की तरह भरत जी का जीवन भी पूजनीय एवं अनुकरणीय

संसार के इतिहास में सबसे प्राचीन इतिहासिक ग्रन्थ महर्षि वाल्मीकि रामयण है। इस ग्रन्थ में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम सहित भरत जी के पावन जीवन का भी चरित्र चित्रण है। राम के अनुज भरत जी ने भी भ्रातृत्व वा भ्रातृ-प्रेम की ऐसी मर्यादायें स्थापित की हैं।

भरत से हारकर राम ने मनाई जीत की खुशी

आत्माराम यादव पीव राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण, भरत ओर शत्रुघन सहित अपने बाल सखायो की टोली लिए राजमहल से बाहर आते हैं और अयोध्या की गलियों में भमरा, लट्टू डोरी का खेलते है। गोस्वामी तुलसीदास ने गीतावली में भगवान के अनेक ललित लीलाओ उनके रूपमाधुर्य ओर उच्च3

कैसे पड़ा भारत का नाम?

सूर्यकांत बाली इस लेख में हम सिर्फ भारत का गुणगान करेंगे। भारत का गुणगान करना तो एक तरह से अपना ही गुणगान करना हुआ। तो भी क्या हर्ज है? गुणगान इसलिए करना है, क्योंकि उनको, उन पश्चिमी विद्वानों को जो हमें सिखाने का गरूर लेकर इस देश में आए थे।

6

भारतीय काव्यशास्त्र

परशुराम राय

काल-विभाजनः- भारतीय काव्यशास्त्र के विकास का इतिहास 500 वर्ष ईसा पूर्व से अठारहवी शताब्दी तक, लगभग दो हजार वर्षों तक फैला हुआ है। विद्वानों ने इस काल का विभाजन विभिन्न तर्कों के आधार पर कई तरह से किया है, लेकिन अधिकांश विद्वानों के अनुसार इसे निम्नलिखित चार भागों में बाँटा गया है:-

1. **आदिकाल या प्रारंभिक काल**- (अज्ञातकाल से छठवीं शताब्दी अर्थात् आचार्य भामह तक।)

2. **रचना काल**- छठवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक (आचार्य भामह से आचार्य आनन्दवर्धन तक)।

3. **निर्णयात्मक काल**- आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक (आचार्य आनन्दवर्धन से आचार्य मम्मट तक)।

व्याख्या काल- दसवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक (आचार्य मम्मट से आचार्य विश्वेश्वर पण्डित तक)

आदिकाल या प्रारंभिक कालः- इस काल में मुख्य रूप से दो ही आचार्य दिखते हैं-

आचार्य भरत और आचार्य भामह, यदि निरुक्तकार महर्षि यास्क या वैय्याकरण महर्षि पाणिनी आदि को छोड़ दिया जाय। क्योंकि इनकी विवेचना केवल उपमा अलंकार तक ही सीमित है। आचार्य भरत का एकमात्र ग्रन्थ नाट्यशास्त्र मिलता है, जिसमें नाटक के विभिन्न अंगों और रसों पर ही विस्तार से विचार किया गया है। काव्यशास्त्र के दृष्टिकोण से नाट्यशास्त्र के केवल 16वें अध्याय में काव्य के गुण-दोषों और अलंकारों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें केवल चार अलंकारों, दस गुणों और दस ही दोषों का उल्लेख मिलता है। अतएव इस ग्रंथ में काव्यशास्त्र के बीज मात्र ही दिखायी पड़ते हैं।

आचार्य भरत के बाद इस परम्परा में रुद्र आदि आचार्यों के नाम आते है, जिन्होंने नाट्यशास्त्र पर टीकाएँ लिखीं हैं, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि उनके ग्रंथ अनुपलब्ध हैं।

यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य भामह काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं और उनका काव्यालंकार इस विद्या का प्रथम मुख्य ग्रंथ है। इसमें नाट्यशास्त्र में वर्णित चार अलंकारों के सथान पर 38 अलंकारों का निरूपण किया गया है।

2. रचनात्मक काल- आचार्य भामह से आचार्य आनन्दवर्धन तक 200 वर्षों का यह काल है। इस काल में काव्यशास्त्र मुख्य चार वाद या सम्प्रदाय- अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय के मूल ग्रंथों का प्रणयन हुआ। सम्प्रदाय सहित उनके आचार्यों का विवरण नीचे दिया जा रहा है-

अलंकार सम्प्रदाय- आचार्य भामह, उद्भट और रूद्रट।

रीति सम्प्रदाय- आचार्य दण्डी और वामन।

रस सम्प्रदाय- आचार्य लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक आदि।

ध्वनि सम्प्रदाय- आचार्य आनन्दवर्धन।

इस काल को काव्यशास्त्र के विकास का काल कहा जा सकता है। इस काल में काव्य के अलंकारों, रीतियों गुणों आदि का निरूपण किया गया। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित 'रससूत्र' पर टीकाएं लिखकर आचार्य लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक आदि ने रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि-सम्प्रदाय की स्थापना की गयी।

निर्णयात्मक कालः- इस काल के प्रमुख आचार्य अभिनव गुप्त, कुंतक, महिमभट्ट आदि हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक पर प्रसिद्ध लोचन

टीका लिखी। अन्यथा ध्वनि के आलोक को अर्थात् ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धांत को बिना लोचन (टीका) द्वारा समझना कठिन होता।

इसके अतिरिक्त उन्होंने आचार्य भरत द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र पर भी अभिनव-भारती नामक प्रसिद्ध टीका लिखी। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्तिजीवित नामक उत्कृष्ट ग्रंथ लिखकर वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना की। आचार्य महिमभट्ट नै"यायिक हैं और इन्होंने व्यक्तिविवेक नामक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ में ध्वनि-सिद्धांत का बड़ी कट्टरता से विरोध करते हुए न्यायांतर्गत अनुमान द्धारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

3. व्याख्या कालः- साहित्यशास्त्र के लिए यह काल बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह आचार्य मम्मट से लेकर आचार्य विश्वेश्वर पण्डित तक अर्थात् दसवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक विस्तृत है। इस काल में अनेक आचार्य हुए हैं। इनमें आचार्य हेमचन्द्र, विश्वनाथ, जयदेव, शारदातनय, शि्गभूपाल, भानुदन्त, गौडीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी आदि हैं। इसके अतिरिक्त कविशिक्षा के क्षेत्र में ग्रंथों का निर्माण करने वाले राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द्र आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी काल में आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रंथ लिखकर 'औचित्यवाद' की स्थापना की। इस काल के आचार्यों के योगदान को देखते हुए विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी के रूप में उन्हें निम्नवत् प्रदर्शित किया जा सकता है:-

रस सम्प्रदाय- शारदातनय, शि्गभूपाल, भानुदन्त, रुपगोस्वामी आदि आचार्य।

अलंकार सम्प्रदाय- पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पण्डित आदि आचार्य।

ध्वनि सम्प्रदाय- मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित आदि आचार्य।

औचित्य सम्प्रदाय- आचार्य क्षेमेन्द्र।

कविशिक्षा- राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिंह, अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि आचार्य।

कुछ अन्य विद्धान साहित्यशास्त्र की दो हजार वर्ष की यात्रा के निम्नलिखित तीन पड़ाव मानते हैं-

1. पूर्वध्वनिक कालः- अज्ञातकाल से आचार्य आनन्दवर्धन तक।

2. ध्वनिकाल- आचार्य आनन्दवर्धन से आचार्य मम्मट तक।

3. ध्वन्योत्तर काल- आचार्य मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक।

उक्त वर्गीकरण के पीछे विद्धानों द्वारा ध्वनि सिद्धांत को इस यात्रा का मील का पत्थर मानना है।

काल विभाजन पर विचारोपरान्त काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों के जीवन परिचय के साथ उनके योगदान की संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक है। तदुपरान्त काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों पर और अन्त में काव्यशास्त्र पर विस्तार से चर्चा की जाएगी।

7

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास

संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र के लिए अलंकारशास्त्र, काव्यालंकार, साहित्यविद्या, क्रियाकल्प आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। इनमें अलंकारशास्त्र शब्द सर्वाधिक प्रचलित माना जाता है। भामह, वामन तथा उद्‌भट आदि प्राचीन आचार्यों ने काव्यविवेचन से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम में काव्यालंकार शब्द का प्रयोग किया है। इसे अलंकारशास्त्र कहने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो प्राचीन आचार्यों ने समस्त सौन्दर्यजनक धर्मों का अलंकार शब्द से ग्रहण किया है। दूसरे प्राचीन आचार्यों की धारणा थी कि अलंकार ही काव्य में प्रधान है। इसी कारण काव्यविवेचना का नाम अलंकारशास्त्र रख दिया गया। आचार्य भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्यलक्षण से आचार्यों को पश्चात् काल में साहित्य शब्द की प्रेरणा मिली। इन सब नामों से भिन्न इस शास्त्र के लिए एक नाम और प्रयुक्त हुआ है वह है – 'क्रियाकल्प' इसका निर्देश वात्स्यायन के कामशास्त्र में गिनायी गयी चौसठ कलाओं में आता है।

सम्पाठ्यं, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोषः, छन्दोज्ञानम् क्रियाकल्पः छलितकयोगाः।

इसके टीकाकार जयमंगलार्क ने क्रियाकल्प शब्द को क्रियाकल्प इति ''काव्याकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः'' इस अर्थ में किया है। इससे प्रतीत होता है कि कलाओं के अन्तर्गत प्रयुक्त हुआ क्रियाकल्प शब्द काव्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यह नाम अत्यधिक प्रचलित नहीं हुआ। आचार्य

वात्स्यायन ने साधारण अधिकरण में प्रस्तुत विद्यासमुद्देश प्रकरण में क्रियाकल्प का उल्लेख किया। क्रियाकल्प अर्थात् काव्यालंकारशास्त्र के ज्ञान की कला।

काव्य के शास्त्र विषयक विचार के प्रवर्तन के सन्दर्भ में काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने अपने काव्यशास्त्रीय प्रौढ़ ग्रन्थ काव्यमीमांसा में पौराणिक आधार का आश्रय लिया है। इस वर्णन के अनुसार भगवान श्रीकण्ठ ने काव्यविद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी और वैकुण्ठ इत्यादि अपने चौसठ शिष्यों को दिया। इस विद्या का द्वितीय बार उपदेश भगवान परमेष्ठी द्वारा उनके इच्छाजन्य शिष्यों को दिया गया, जिनमें देववन्ध सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी एक था। काव्यपुरुष को त्रिकालज्ञ और दिव्यदृष्टि से सम्पन्न जानकर ब्रह्म ने उसे आज्ञा दी कि वह सर्वजनहित की कामना से भू-भुवः और स्वर्ग निवासनी प्रजा में काव्यविद्या का प्रचार करे। काव्यपुरुष ने काव्यविद्या को अट्ठारह भागों में विभक्त कर सहस्त्राक्ष आदि दिव्य स्नातकों को उपदिष्ट किया। उन शिष्यों ने काव्यविद्या को पृथक-पृथक् भागों में विशेष योग्यता प्राप्त कर पृथक् पृथक् ग्रन्थों की रचना की। इन स्नातकों में सहस्त्रक्ष ने कविरहस्य, उक्तिगर्भ ने औक्तिक, सुवर्णनाभ ने रीतिनिर्णय, प्रचेता ने आनुप्रासिक, यम ने यमक, चित्रंगद ने चित्र, शेष ने शब्दश्लेष, पुलत्स्य ने वास्तव, औपकायन ने औपम्य, पराशर ने अतिशय, उत्थ्य ने अर्थश्लेष, कुबेर ने उभयालंकारकारिका, कामदेव ने वैनोदिक, भरत ने रूपक निर्णय, उपमन्यु ने गुणौपादानिक तथा कुचुमार ने औपनिषदिक नामक पृथक् पृथक् ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार राजशेखर ने काव्यशास्त्र के उद्गम के ऊपर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। इस आख्यान में काव्यशास्त्र की दैवी उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। काव्यमीमांसा में वर्णित काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का आख्यान पौराणिक काव्यात्मक कल्पनाओं की सृष्टि है।

(क) काव्यशास्त्रीय वैदिक परम्परा

प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार वेद सभी विद्याओं की उत्पत्ति के मूल हैं। इसी दृष्टि से काव्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का वेद में अन्वेषण करने का प्रयत्न किया गया है। साक्षात् काव्यशास्त्र का वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वेदागें में भी शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष इन छः विद्याओं की गणना है, पर काव्यशास्त्र की नहीं, परन्तु वेद को देव का अमर काव्य कहा गया है। 'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'। वेदों में अनेक स्थानों पर कवि शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिए वेद स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्य का

सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में 'अरंलकृतिः' शब्द का प्रयोग मिलता है। महर्षि वसिष्ठ इन्द्र से कहते हैं –

का ते अस्त्यरंकृति सूक्तैः।

काव्यशास्त्र में काव्यसौन्दर्य के आधायक जिन गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि आदि तत्त्वों का विवेचन किया गया है, वे सभी तत्त्व का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक रूप से वेद में पाये जाते है। डा0 काणे का मत है कि ऋग्वैदिक कवियों ने उपमा, अतिशयोक्ति, रूपक आदि अलंकारों का केवल प्रयोग नहीं किया, वरन् काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी उन्हें कुछ ज्ञान था। प्रस्तुत मन्त्र में मन्त्रदृष्टा ऋषि द्वारा किया गया उपमा का प्रयोग भी प्रशंसनीय है–

उतत्त्वः पश्यन न ददर्श वाच उतत्त्वः शृण्वन् न शृणोत्येननाम् उतो त्व स्मै तन्वं विससे जायेव पत्ये उक्ती सुवासा।

इसी प्रकार 'उषा हस्नेव निर्णीते अप्सः' में उत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग है। इसी प्रकार यह मन्त्र भी सुन्दर उदाहरण है यथा–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्धत्ति अनश्नन्नयो अभिचाकशीति।

प्रस्तुत मंत्र में पीपल पर रहने वाले दो पक्षियों का वर्णन है, जिनमें एक तो पीपल के मीठे फल खा रहा है दूसरा बिना फल भक्षण के आनन्दमग्न है। इन पक्षियों के माध्यम से जीवात्मा तथा परमात्मा का चित्रण किया गया है। जीव इन्द्रिय सुखों का भोग करता है तथा परमात्मा फलों का भोग न करता हुआ संसार में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। यहाँ विभावना का सुन्दर उदाहरण है। इसके अतिरिक्त रूपक, अनुप्रास, विशेषोक्ति का प्रयोग सुस्पष्ट है। अन्य संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में भी काव्यशास्त्र का स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं प्राप्त होता है। परवर्ती काल में छः वेदांगों का विकास हुआ उनमें काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों का न्यूनाधिक प्रतिपादन दृष्टिगत होता है। निरुक्त में यास्क ने उपमा के पाँच भेदों–भूतोपमा, सिद्धोपमा, कर्मोपमा, लुप्तोपमा का उल्लेख किया है। साथ ही अपने पूर्ववर्ती आचार्य गर्ग के उपमानिरूपक लक्षण को उद्धृत किया है।

आचार्य यास्क ने 'अथाप्युपमार्थे भवित' की व्याख्या करते हुए इव, यथा, न, चित्, नु तथा आ के प्रयोगों की सार्थकता सिद्ध की है। निरुक्त में पारिभाषिक अर्थ में अलंकार शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु यास्क ने ''अलंरिष्णु' शब्द को अलंकृत करने के स्वभाववाला के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है। पाणिनि

के युग तक उपमा का प्रयोग स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। यथा, वा, इव का प्रयोग तत्र तस्येव, तेन तुल्यं क्रिया चेद्धति आदि सूत्रों में व्याख्यायित हुआ है। 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः व्याकरणशास्त्र की देन है। अभिधा, लक्षणा शब्दशक्तियों को सर्वप्रथम वैयाकरणों ने परिभाषित किया। व्य0जना शक्ति भी स्फोटसिद्धान्त पर आधारित है। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि वेदाग् निरुक्त तथा व्याकरण में काव्यशास्त्र का सम्बन्ध है। इस प्रकार वेद तथा वेदांगों में काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों के बीज पर्याप्त मात्रा में मिलते है।

(ख) काव्यशास्त्रीय लौकिक परम्परा

ईस्वी सन् से शताब्दियों पूर्व उत्तम प्रकार की काव्य रचना हुई, इसके पर्याप्त प्रमाण है। रामायण और महाभारत इन दोनों महाकाव्यों में उत्तम प्रकार की काव्यरचना मिलती है। महाभारत काव्य की अपेक्षा धर्मशास्त्र है फिर भी यह अनेक कवियों का उपजीव्य रहा है। रामायण अपने उद्देश्य, स्वरूप, विषय की दृष्टि से वास्तव में काव्य है। जहाँ तक काव्य रचना और काव्य समीक्षा के सामान्य सिद्धान्तों के विकास का प्रश्न है वाल्मीकीय रामायण इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसे आदि काव्य और इसके रचयिता को आदि कवि होने का सम्मान प्राप्त है। उदात्त शैली के ऐसे महान काव्यात्मक प्रयास के साथ काव्य विवेचन के सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयास स्वभाविक है।

रामायण में इस दिशा का कुछ संकेत उपलब्ध हैं। रामायण तथा महाभारत के रूप में काव्यत्व का समृद्ध रूप सामने होने पर काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना का मार्ग बड़ी स्पष्टता के साथ प्रशस्त हुआ होगा, ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

यद्यपि इस समय संस्कृत काव्यशास्त्र की स्वतन्त्र रचना नहीं हुयी फिर भी कुछ साक्ष्य उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में भी पर्याप्त काव्यरचना हुयी थी। महाकाव्य का स्वरूप निरूपण 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर किया गया। रूद्रट के टीकाकार नामिसाधु ने पाणिनि के नाम से 'पातालविजय' नामक महाकाव्य का उल्लेख किया है- तथाहि पाणिनेः पतालविजये महाकाव्ये-''सन्ध्यावधूंगृह्यकरेण''। जबकि राजशेखर उन्हीं नाम से जाम्बवतीजय काव्य को उद्धृत करते है।

स्वस्ति पणिनये तस्मै यस्य रुद्र प्रसादतः।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवती जयः।

सुवृत्ततिलक में क्षेमेन्द्र ने उपजाति में पाणिनि के वैशिष्ट्य प्राप्ति की चर्चा की है।

कात्यायन के वार्तिक में आख्यायिका शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि आख्यायिका नामक काव्यांग कात्यायन से पूर्व प्रचलित हो चुका था। महाभाष्य में 'वारुरुचं काव्यम्' का उल्लेख आता है। साथ ही वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी नामक आख्यायिकाओं का भी उल्लेख है। पतंजलि ने कंसवध तथा बलिबन्धन की कथाओं पर दो कृतियों तथा उसके नाटकीय प्रदर्शन की चर्चा की है।

इन तथ्यों से यह सूचित होता है कि पतंजलि से पूर्व पर्याप्त मात्रा में काव्य-आख्यायिका तथा नाटकों का निर्माण हुआ था। भरत का नाट्यशास्त्र वर्तमान काल में काव्यशास्त्र का प्राचीनतम् ग्रन्थ उपलब्ध है। किन्तु ऐसे साक्ष्य प्राप्त हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र भारतीय काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का पर्याप्त मात्रा में उल्लेख होते हुए उसका समुचित शास्त्रीय निरूपण भरत कृत नाट्यशास्त्र से पहले प्राप्त नहीं होता है। नाट्शास्त्र के पश्चात् काव्यविवेचन सम्बन्धित ग्रन्थों के प्रणयन की परम्परा प्राप्त होती है और काव्यशास्त्रीय धारणाओं का विकास उपलब्ध होता है। विवेचन की दृष्टि से इसको तीन भागों में विभक्त कर उसके विकास का अध्ययन किया जा सकता है-

(1) प्राचीन युग- आचार्य भरत से आचार्य रुद्रट।

(2) मध्य युग - आचार्य आनन्दवर्धन से पण्डितराज जगन्नाथ तक।

(3) आधुनिक युग।

(क) पूर्वार्दर्ध परम्परा - आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय से पण्डित छज्जूरामशास्त्री विद्यासागर।

(ख) उत्तरार्दर्ध परम्परा - स्वामी करपात्री से वर्तमान काल तक।

प्राचीन युग

भरत

काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ आचार्य भरत कृत नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र का समय 200 ई0पू0 माना गया है। नाट्यशास्त्र में 36 अध्याय हैं।

नाट्यशास्त्र तीन भागों में विभक्त है- गद्य, सूत्र विवरण, स्वभावाकारिका, अन्यश्लोक। नाट्यशास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य नाट्य है, परन्तु अन्य साहित्यिक सिद्धान्तों की चर्चा है। आचार्य भरत की यह कृति काव्यशास्त्र का आदि स्रोत है। नाट्यशास्त्र में सर्वविद्यायें विद्यमान है। आचार्य भरत ने इसका उल्लेख स्वयं किया है-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्ये*स्मिन् यन्न दृश्यते।

आचार्य भरत और आचार्य भामह के मध्य आचार्य मेधावी का उल्लेख मिलता है, परन्तु मेधावी का अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है।

भामह

भामह कृत काव्यालंकार भरतोत्तर युग का प्रथम मान्य ग्रन्थ है। आचार्य भामह ने काव्यालंकार में अपना परिचय स्वयं किया है-

प्रणम्य सार्वसर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते।
अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसुनुनेदम्।

अलंकारशास्त्र इस ग्रन्थ के द्वारा नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को मुक्त कर स्वतन्त्र शास्त्र के रूपमें दृष्टिगत होता है। काव्यालंकार छः परिच्छेदों में विभक्त है। आचार्य भामह ने सर्वप्रथम काव्य को परिभाषित किया और काव्य का मुख्य तत्त्व अलंकार को स्वीकार करते हुए प्रथम बार 39 अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया।

दण्डी

आचार्य दण्डी अलंकार-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। आचार्य दण्डी ने अलंकारों की सूक्ष्म व्याख्या की और लिखा-

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।

काव्यादर्श आचार्य दण्डी की काव्यशास्त्रीय कृति है। आचार्य दण्डी का समय सप्तम् शताब्दी का उत्तरार्द्ध मान्य है। काव्यादर्श चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, काव्यभेद, वैदर्भी गौड़ी रीतियों, दस गुणों तथा

प्रतिभा इत्यादि तीन हेतुओं का निरूपण किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में 35 अलंकारों का चित्रण है। तृतीय परिच्छेद में यमक तथा चित्रबन्ध के 16 प्रकारों का वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में दोषों का वर्णन किया गया है।

भट्टोदभट्ट

भट्टोदभट्ट का समय आठवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना गया है। आचार्य उद्भट की तीन रचनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है– भामह विवरण, कुमारसम्भव काव्य, काव्यालंकारसार संग्रह। प्रथम दो अनुपलब्ध ग्रन्थ है। उद्भट प्रणीत काव्यालंकारसार संग्रह मात्र उपलब्ध ग्रन्थ है। यह छः वर्गों में विभक्त है। इसमें कुल 79 कारिकाएँ 41 अलंकारों की व्याख्या है।

वामन

काव्यालंकारसूत्र आचार्य वामन की काव्यशास्त्रीय कृति है। आचार्य वामन का समय आठवीं शती का उत्तरार्द्ध तथा नवीं के पूर्वार्द्ध में सिद्ध होता है। वामन ने काव्यात्मा के रूप में रीति का प्रथम बार प्रतिपादन किया, रीतिरात्मा काव्यस्य काव्यालंकार में पाँच अधिकरण है। प्रथम शरीराधिकरण में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यशिक्षा, काव्यात्मा रीति, रीतित्रैविध्य आदि का निरूपण है। द्वितीय दोषदर्शन में पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का निरूपण है। तृतीय गुणविवेचन नामक अधिकरण में गुण तथा अलंकार का भेद तथा दश शब्दगुणों, दश अर्थगुणों का निरूपण किया गया है। चतुर्थ आलंकारिंक नामक अधिकरण में अलंकारों का निरूपण है। पंचम प्रायोगिक नामक अधिकरण में कविपरम्पराओं तथा प्रयोगों का निरूपण है। ये समस्त पाँच अधिकरण कुल बारह अध्यायों में विभक्त है।

रुद्रट

काव्यालंकार के लेखक आचार्य रुद्रट मूलतः अलंकारवादी कवि हैं। आचार्य रुद्रट का समय 850 ई0 माना गया है। काव्यालंकार सोलह अध्यायों में विभक्त है। यह आर्याछंद में है। काव्यालंकार में काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, रीतिशब्दालंकार, अर्थालंकार, चित्रालंकार, दोष विवेचन, रसविवेचन, नायिका निरूपण किया गया है। काव्यालंकार पर नामिसाधु की टीका का

उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य रुद्रट काव्य में रस की महत्वपूर्ण उपस्थिति के समर्थक हैं।

तस्मात्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

मध्य युग

आनन्दवर्धन

आचार्य आनन्दवर्धन का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। ध्वन्यालोक चार उद्योत में विभक्त है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'23 प्रथम उद्योत में ध्वनि विरोधी आचार्यों के मतों के प्रतिपादन के पश्चात् ध्वनि की समीक्षा है। द्वितीय उद्योत में ध्वनिभेदों की उदाहरण सहित समीक्षा है। तृतीय उद्योत में वर्ण, पद, वाच्य, संघटना तथा प्रबन्धादि व्यंजकों के भेदों का वर्णन है। चतुर्थ उद्योत में कवि प्रतिभा का विवेचन है। आचार्य अभिनवगुप्त रचित लोचन टीका ध्वन्यालोक की प्रसिद्ध टीका है।

राजशेखर

आचार्य राजशेखर का समय दशम शती पूर्वार्द्ध माना जाता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की।

यायावरीयः संक्षिप्त मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत् काव्यमीमांसा कविभ्यो राजशेखरः।

काव्यमीमांसा में अट्ठारह अधिकरण हैं। परन्तु कविरहस्य नामक प्रथम अधिकरण उपलब्ध होता है। इस अधिकरण में 18 अध्याय है। इसमें शास्त्रसंग्रह, शास्त्रनिर्देश, काव्यपुरुषोत्पत्ति, पदवाक्यविवेक, शिष्यप्रतिभा, काव्यपाककल्प आदि विषयों का वर्णन है।

मुकुलभट्ट

आचार्य मुकुलभट्ट का समय दशम् शती का पूवार्ध माना गया है। मुकुलभट्ट की एकमात्र काव्यशास्त्रीय रचना है- अभिधावृत्तिमातृका। भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता25 इसमें 15 कारिकाएँ है। अभिधावृत्तिमातृका में अभिधा और लक्षणा दो शब्दशक्तियों की मात्र समीक्षा है।

भट्टतौत

आचार्य भट्टतौत का समय दशम शती उत्तरार्ध माना गया है। काव्यकौतुक के रचयिता भट्टतौत का ग्रन्थ अनुपलब्ध है। भट्टतौत के काव्यशास्त्रीय मतों का उल्लेख अभिनवभारती में प्राप्त होता है। भट्टतौत की प्रेरणा से अभिनवभारती का प्रणयन अभिनवगुप्त ने किया।

सद्विप्रतोतवदनोदितनाटयवेदतत्त्वार्थमर्थिजनवांछतसिद्धिहेतोः।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति।

भट्टनायक

भट्टनायक का समय दशम शती उत्तरार्ध माना गया है। भट्टनायक का हृदयदर्पण नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अनुपलब्ध है। भट्टनायक भरत रससूत्र के व्याख्याकारों में से हैं। भुक्तिवाद का समर्थन करते हुए भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधा धामतां याते शब्दार्थालंकृती सतः।
भावना भाव्य एषो*पि शृंगारादिगणो यत्।
तदभोकृतःपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त का समय दशम शती माना गया है। अभिनवगुप्त की प्रमुख कृतियों में अभिनवभारती नाट्यशास्त्रीय टीका तथा लोचन ध्वन्यालोकीय टीका है। अभिनवगुप्त ध्वनिसिद्धान्त के महान समर्थक है।

(1) 'ध्वन्यते*नेनेति ध्वनिः' शब्दार्थौ।
(2) ध्वन्यते*सौ ध्वनिः व्यंग्यार्थः।
(3) ध्वन्यते*स्मिन् ध्वनिः काव्यविशेषः।
(4) ध्वननं ध्वनिः व्यंजनाव्यापारः।

इस प्रकार पाँच अर्थों में ध्वनिशब्द का प्रयोग किया।

धनंजय

आचार्य धनंजय का समय दशम् शती का उत्तरार्ध माना गया है। दशरूपक आचार्य धनंजय कृत रचना है। इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं ग्रन्थान्त में किया है।

विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन विद्वन्दमनोरागनिबन्ध हेतुः।
आविष्कृतं मुन्जमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्।

यह ग्रन्थ भरत नाट्यशास्त्र पर आधारित है। दशरूपक में चार प्रकाश है। प्रथम प्रकाश में नृत्य लक्षण, अर्थप्रकृतियों, पंचसन्धियों विषकम्भक, प्रवेशक, अन्य नाट्य युक्तियों का विवेचन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका, नाट्यवृत्तियों का विवेचन है। तृतीय प्रकाश में दस प्रकार के रूपकों का विवेचन है। चतुर्थ प्रकाश में रस सिद्धान्त की व्याख्या है।

कुन्तक

आचार्य कुन्तक का समय 11वीं शती का पूर्वार्ध माना गया है। वक्रोक्तिजीवित काव्यशास्त्रीय कृति के प्रणेता आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति को काव्यात्मा स्वीकार करते है।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंकीभणितिरुच्यते। वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी। विचित्रैवाभिधा। कीदृशी-वैदग्ध्यभंकीभणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं। तस्य भंकी विच्छित्तिः, तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्यच्यते।

वक्रोक्तिजीवित में कुल चार उन्मेष हैं। वक्रोक्तिजीवित कारिका, वृत्ति, उदाहरण में निबद्ध है। प्रथम उन्मेष में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, वक्रोक्तिस्वरूप, काव्यमार्ग का विवेचन किया गया है। द्वितीय उन्मेष में वर्णविन्यास वक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, प्रत्ययवक्रता का विवेचन किया गया है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवक्रता तथा चतुर्थ में प्रकरण तथा प्रबन्ध वक्रता का विवेचन है।

महिमभट्ट

महिमभट्ट का समय ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध माना गया है। व्यक्तिविवेकार के नाम से महिमभट्ट प्रसिद्ध है। महिमभट्ट ने ध्वनि का व्यंग्यार्थ रूप में खण्डन किया है। व्यक्तिविवेक तीन विमर्शों में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि का खण्डन करते हुए अपने मत का प्रतिपादन किया है। द्वितीय विमर्श में अनौचित्य की व्याख्या की गयी है। तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के चालीस उदाहरण को उद्धृत करने के पश्चात् यह प्रतिपादित किया गया है कि उदाहरण व्यंजना के न होकर अनुमान के है। आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनि अथवा प्रतीयमानार्थ को अनुमान का विषय मानकर व्यक्तिविवेक की रचना की -

अनुमाने *न्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।

क्षेमेन्द्र

आचार्य क्षेमेन्द्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यकाल माना गया है। औचित्यविचारचर्चा तथा कविकण्ठाभरण क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्यात्मा स्वीकृत किया–

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।

औचित्यविचारचर्चा में 19 कारिकायें है। इसमें औचित्य को परिभाषित करने के पश्चात् क्षेमेन्द्र ने 27 प्रकार के औचित्य की सोदाहरण व्याख्या की है। कविकण्ठाभरण में 55 कारिकायें है। कविकण्ठाभरण पाँच सन्धियों में विभक्त है। यह ग्रन्थ कविशिक्षापरक है।

भोजराज

आचार्य भोज का समय 1010 ई0 सन् से 1055 ई0 तक माना गया है। भोज प्रणीत सरस्वतीकण्ठाभरण तथा श्रृंगार प्रकाश दो काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। सरस्वतीकण्ठाभरण में पाँच परिच्छेद है।

प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, दोष तथा शब्दगुणों, अर्थगुणों का विवेचन है। द्वितीय परिच्छेद में चौबीस शब्दालंकारों का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में 24 अर्थालंकारों का वर्णन है। चतुर्थ परिच्छेद में 24 उभयालंकारों तथा पंचम परिच्छेद में रस का विवेचन किया गया है। श्रृंगार प्रकाश 36 प्रकाशों में विभक्त है। डॉ0 रेवा प्रसाद द्विवेदी ने हार्वर्ड विश्वविद्यालय से प्राप्त श्रृंगार प्रकाश की पाण्डुलिपि का सम्पादन किया है। आचार्य भोज के अनुसार श्रृंगार सभी रसों का मूल है।

'श्रृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः'।

मम्मट

ध्वनि प्रतिष्ठापनाचार्य मम्मट का समय 11वीं शती का उत्तरार्ध माना गया है। आचार्य मम्मट की प्रसिद्धि का कारण है। उनके द्वारा रचित काव्यशास्त्रीय कृति काव्यप्रकाश। काव्यप्रकाश में दस उल्लास, 142 कारिकायें है। काव्यप्रकाश

में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यभेद, शब्दशक्ति, त्रिविधि काव्यार्थ, ध्वनि, गुण, अलंकार, रीति, काव्यदोष आदि विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। काव्यप्रकाश में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का समन्वय दृष्टिगत होता है, इसका उल्लेख स्वयं ग्रन्थकार ने किया है–

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नो *प्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यद्मुत्र सम्यग्विनिर्मिता सग्टनैव हेतुः।

आचार्य मम्मट ने ध्वनि विरोधी आचार्यों का प्रबल रूप से खण्डन किया और ध्वनि सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की।

रुय्यक

आचार्य रुय्यक का समय 12वीं शती का मध्यभाग माना गया है। अलंकारसर्वस्व के रचनाकार आचार्य रुय्यक राजानक उपाधि से अलंकृत आचार्य थे–

राजानकरुचकापरनाम्नो *लंकारसर्वस्वकृतः।

रुय्यक ने काव्यप्रकाश संकेत टीका की रचना की। रुय्यक ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अलंकारसर्वस्व में 82 अलंकारों की व्याख्या की है। रुय्यक ने ध्वनि सिद्धान्त के प्रति अपनी आस्था प्रकट करने के पश्चात् पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यशास्त्रीय मतों का निरूपण किया है।

वाग्भट

आचार्य वाग्भट प्रथम का समय 12वीं शती का मध्यभाग माना गया है। वाग्भटालंकार वाग्भट की काव्यशास्त्रीय कृति है, जो पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण तथा काव्यहेतुओं का निरूपण है। द्वितीय परिच्छेद में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची भाषा का उल्लेख करने के पश्चात् काव्यभेदों तथा पद वाक्य आठ दोषों की समीक्षा की गयी है। तृतीय परिच्छेद में काव्य के दस गुणों तथा चतुर्थ परिच्छेद में चार शब्दालंकारों, 35 अर्थालंकारों, वैदर्भी गौड़ी दो रीतियों का विवेचन किया गया है। पंचम परिच्छेद में रस, नायक, नायिका भेद निरूपण किया गया है। ग्रन्थ समाप्ति पर इस श्लोक से सम्पूर्ण ग्रन्थ का विवेच्य ज्ञात होता है–

दोषैरुज्झितमाश्रितं गुणगणैश्चेतश्चमत्कारिणं नानालंकृतिभिः परीतमभितो रीत्यास्फुरन्त्यासताम्।

तैस्तैस्तन्मयतां गतं नवरसैराकल्पकालं कवि स्रष्टारो घटयन्तु काव्यपुरुषं सारस्वाध्यानिः।

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र का समय 12वीं शताब्दी का मध्यकाल माना गया है। हेमचन्द्र कृत काव्यशास्त्रीय कृति 'काव्यानुशासन' है। काव्यानुशासन में आठ अध्याय है। काव्यानुशासन सूत्र, वृत्ति उदाहरण तीन भागों में विभक्त है। कारिकादि पर हेमचन्द्र ने विवेक नाम की टीका भी लिखी। प्रथम अध्याय में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, गुणदोष, अलंकारलक्षण, शब्दार्थलक्षण तथा लक्ष्यार्थ, मुख्यार्थ, व्यंग्यार्थ का विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय में रसनिरूपण, तृतीय में काव्यदोष समीक्षा, चतुर्थ में गुण विवेचन, पंचम, षष्ठ में शब्दालंकार, अर्थालंकार व्याख्या, सप्तम में नायक-नायिका भेद निरूपण अष्टम अध्याय में काव्यभेदों की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

अमरचन्द्रसूरि

आचार्य अमरचन्द्रसूरि का समय 13वीं शती मध्यकाल माना गया है। आचार्य अमरचन्द्रसूरि कृत काव्यकल्पलता कविशिक्षा परम्परा का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ चार प्रतानों में विभक्त है। प्रतान अध्यायों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में छन्दः सिद्धि, शब्द सिद्धि, श्लेषसिद्धि, अर्थसिद्धि का विवेचन किया गया है।

जयदेव

आचार्य जयदेव का समय 13वीं शती माना गया है। आचार्य जयदेव कृत चन्द्रालोक अपनी रुचिकर शैली के लिए प्रसिद्ध है। चन्द्रालोक दस मयूखों में विभक्त है। इसमें क्रमशः काव्यलक्षण काव्यहेतु, त्रिविध शब्द, दोष निरूपण, लक्षण निरूपण, गुणविवेचन, अलंकार, रस, भाव, रीति, वृत्ति, व्यंजनाविमर्श, ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यंय काव्य, लक्षणाविवेचन तथा अभिधा निरूपण किया गया है। जयदेव ने अलंकार को काव्य का अनिवार्य तत्त्व कहा है -

अंकीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।

वाग्भट द्वितीय

आचार्य वाग्भट द्वितीय का समय 13वीं शती उत्तरार्ध माना गया है। आचार्य वाग्भट कृत काव्यानुशासन सूत्र, वृत्ति उदाहरण में विभक्त है। काव्यानुशासन पाँच

अध्यायों में विभक्त रचना है। प्रथम अध्याय में काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यभेद तथा महाकाव्यादि लक्षण का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में गुण दोष विवेचन तृतीय में अर्थालंकारों,, चतुर्थ में शब्दालंकारों तथा पंचम अध्याय में रस तथा नायक-नायिका भेद की समीक्षा है।

विद्याधर

आचार्य विद्याधर का समय 13वीं शती उत्तरार्ध का माना गया है। आचार्य विद्याधर कृत एकावली काव्यशास्त्रीय गन्थ में आठ उन्मेष हैं। एकावली में काव्यहेतु काव्यस्वरूप, त्रिविधशब्द, त्रिविध अर्थ, त्रिविध वृत्ति, ध्वनि, गुण, रीति, दोष, अलंकारों का विवेचन किया गया है। आचार्य विद्याधर के अनुसार शब्द अर्थ काव्य का शरीर है तथा ध्वनि काव्य की आत्मा है -

ध्वनिप्रधानं काव्यं तुत कान्तासम्मितमीरितम्।
शब्दार्थौ गुणतां नीत्वा व्यंजनाप्रवणं यतः।

विद्यानाथ

आचार्य विद्यानाथ का समय चौदहवीं शती पूर्वार्ध माना गया है। आचार्य विद्यानाथ ने प्रतापरुद्रयशोभूषण नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का प्रणयन किया।

प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः अलंकारप्रबन्धो*, सन्तः कणोत्सवो*स्तु वः।

प्रतापरुद्रयशोभूषण में कुल नौ प्रकरण है। इस ग्रन्थ में क्रमशः नायक-काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकारों, अर्थालंकारों, उभयालंकारों का वर्णन किया गया है।

विश्वनाथ

कविराज विश्वनाथ का समय 14वीं शती माना गया है। आचार्य विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण काव्यशास्त्रीय रचना है। साहित्यदर्पण में दस परिच्छेद है। इसमें काव्यलक्षण, शब्दशक्ति, रस, ध्वनि,व्यंजना, दशरूपक, श्रव्यकाव्यभेद, दोष, गुण, रीति, अलंकारों का विवेचन किया गया है। आचार्य विश्वनाथ ने रस की व्याख्या विस्तार के साथ की है -

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम।

आचार्य विश्वनाथ की दर्पण नामक काव्यप्रकाश की टीका भी है।

केशवमिश्र

आचार्य केशवमिश्र का समय 16वीं शती उत्तरार्ध माना गया है। अलंकारशेखर आचार्य केशवमिश्र कृत काव्यशास्त्रीय रचना है। यह ग्रन्थ 8 रत्नों तथा 22 मरीचियों में विभक्त है। अलंकारशेखर में काव्यलक्षण, काव्यहेतु, रीति, शब्दवृत्ति, दोष, गुण, अलंकार, कविसमय, वर्ण्यविषय, समस्यापूर्ति संख्याबोधक वस्तु रसादि का सारग्राही विवेचन किया गया है।

भानुदत्त मिश्र

आचार्य भानुदत्त मिश्र का समय 16वीं शताब्दी माना गया है। रसमंजरी-रसतरंगिण तथा अलंकारतिलक आचार्य भानुदत्त कृत काव्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं। रसमंजरी, रसतरंगिण का प्रतिपाद्य विषय नायक नायिका भेद तथा रस विवेचन है। अलंकारतिलक पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। अलंकारतिलक में काव्यस्वरूप, पद वाक्य वाक्यार्थ विवेचन, गुण शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की समीक्षा प्रस्तुत की है।

रूपगोस्वामी

रूपगोस्वामी का समय 16वीं शती माना गया है। भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्जवनीलमणि। रूपगोस्वामी कृत भक्तिपरक काव्यशास्त्रीय कृतियाँ है। रूपगोस्वामी कृत भक्तिरस को दशम रस के रूप में स्वीकार किया है। भक्तिरसामृतसिन्धु चार विभागों तथा अनेक लहरियों में विभक्त है।

अप्पयदीक्षित

आचार्य अप्पयदीक्षित का समय 16वीं शती माना गया है। वृत्तिवार्तिक, चित्रमीमांसा तथा कुवलयानन्द अप्पयदीक्षित कृत काव्यशास्त्रीय कृतियाँ है।

अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगान्देटटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः।
चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसंभवः।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम्।

पण्डितराज जगन्नाथ

काशी की विभूति पण्डितराज जगन्नाथ का समय 17वीं शती स्वीकृत किया गया है। रसगगधर आचार्य जगन्नाथ कृत लोकप्रिय काव्यग्रन्थ है। रसगगधर दो आननों में विभक्त है। प्रथम आनन में काव्यलक्षण, काव्यहेतु, काव्यभेद तथा शब्द अर्थ गुणों की चर्चा की गयी है। इसके अतिरिक्त रस, भाव, रसाभास, भावसन्धि, भावशबलतादि का विवेचन प्रथम आनन में है। द्वितीय आनन में संलक्ष्यक्रमध्वनि, 70 अलंकारों की उदाहरण सहित व्याख्या की गयी है। आचार्य जगन्नाथ ने अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का खण्डन करते हुए अपनी विद्वता का परिचय रसगगधर में प्रस्तुत किया है।

मननतरितीर्णविद्या*र्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः।
रसगधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम्।

आधुनिक युग

पूर्वार्ध परम्परा

काव्यशास्त्रीय परम्परा आचार्य जगन्नाथ के पश्चात् समाप्त नहीं हुयी। 18वीं शती के आचार्यों के कर्तृत्व की संक्षिप्त समीक्षा इस प्रकार है।

आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय

पण्डितराजोत्तर आचार्यों में आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय का श्रेष्ठ स्थान है। इनका समय 18वीं शती पूर्वार्ध माना गया है। आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय कृत 24 गन्थ प्रसिद्ध है। अलंकारकौस्तुभ, अलंकारमुक्तावली, अलंकारप्रदीप, रसचन्द्रिका, कवीन्द्रकण्ठाभरण कवि कृत काव्यशास्त्रीय रचनाएँ हैं। इन ग्रन्थों में कवि ने रस, रीति, गुण, वृत्ति, दोषादि का चित्रण किया है। अलंकारकौस्तुभ काव्यशास्त्र की प्रमुख कृति है, जो 66 कारिकाओं में निबद्ध है। अर्थालंकारों की लक्षण सहित व्याख्या इस ग्रन्थ में है। अलंकारमुक्तावली में कौस्तुभ के ही अलंकारलक्षण वर्णित है, परन्तु उदाहरण भिन्न है। यह ग्रन्थ सरल भाषा में है।

नानापक्षविभावनकुतुकमलंकारकौस्तुभंकृत्वा।
सुखबोधाय शिशूनां क्रियते मुक्तावलीतेषाम्।

अलंकारप्रदीप में एक सौ बीस अलंकारों की परिभाषा सूत्रों में है। रसचन्द्रिका में नौ रसों का विवेचन किया गया है।

आचार्य हरिप्रसाद

आचार्य हरिप्रसाद का समय 18वीं शती माना गया है। आचार्य हरिप्रसाद कृत काव्यलोक सात प्रकाशों में विभक्त है। काव्यलोक में काव्यलक्षण, ध्वनिनिरूपण, रसविकास, दोषविवेचन, गुणनिरूपण, शब्दालंकारविवेचन, अर्थालंकार निरूपण का विवेचन किया गया है। कवि ने चमत्कार को काव्यात्मा कहा है।

भाव्यमाने चमत्कारः सुखातिशयकारणम्।
वस्त्वलंकाररुपो*पि काव्यस्यात्मा गतं मम्।

चिरंजीव भट्टाचार्य

आचार्य चिरंजीव भट्टाचार्य का समय 18वीं शताब्दी पूर्वार्ध है। आचार्य चिरंजीव प्रणीत काव्यविलास काव्यशास्त्रविषयक रचना है। काव्यविलास दो भग्यिं में विभक्त है। प्रथम भंकीं में काव्यहेतु, काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन तथा नौ रसों का विवेचन है। द्वितीय भंकी में अलंकारों का निरूपण है। अलंकार निरूपण काव्यप्रकाश पर आधारित है। कवि ने चमत्कार को काव्य का जीवंत तत्त्व माना है। वह चमत्कार रस और अलंकार से सम्भव है। ऐसा कवि का मन्तव्य है।

भट्टदेवशंकर पुरोहित

भट्ट देवशंकर पुरोहित का समय 18वीं शती उत्तरार्ध माना गया है। देवशंकर पुरोहित कृत अलंकारमंजूषा काव्यशास्त्रीय रचना है।

उरःपत्तनकृततानिवासेन रानेरनगरजन्मभुवा पुरोहितनाहनाभयिसुतेन
पुरोहितो- पनामकभट्टदेवशंकरेण विरचिता अलंकारमंजूषा।
अलंकारमंजूषा में 115 अलंकारों का वर्णन है।

आचार्य कृष्णशर्मा

आचार्य कृष्णशर्मा का समय 1835 से 1909 ई0 के मध्य माना है। मन्दारमरन्दचम्पू आचार्य कृष्णशर्मा की काव्यशास्त्रीय रचना है। इसमें छन्दशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र कविशिक्षा का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त कवि कृत काव्यलक्षण, रसप्रकाश इत्यादि रचनाएँ है। मन्दारमरन्दचम्पू चम्पू काव्य नहीं है। यह आद्यान्त काव्यशास्त्रीय रचना है। मन्दारमरन्दचम्पू के प्रत्येक बिन्दु के अन्त में आत्मवृत्त इस प्रकार दिया है-

इति श्रीमद्घटिकाशताण्टाविहिताष्टभाषाचरणनिपुणस्य वासुदेवयोगी-'वरस्यान्तेवास्यन्यतमस्य गुहपुरवासशर्मणः स कृष्णशर्मणः कवेः कृतौ मन्दारमरन्देचम्पू प्रबन्धे वृत्तबिन्दुः प्रथमः समाप्तिमगमत्।

आचार्य नरसिंह कवि

आचार्य नरसिंह कवि का समय 18वीं शती उत्तरार्ध माना गया है। नंजराजयशोभूषण कवि नरसिंह कृत काव्यशास्त्रीय रचना है। नंजराजयशोभूषण के अन्त में इसका उल्लेख है-

श्रीपरमशिवावतारशिवरामदेशिकचरणारविन्दानुसन्धान् महिमसमासादितनिः सहयदैनन्दिन प्रबन्ध निर्माण साहसिक निखिल विद्वज्जन लालनीय सरस साहित्य सम्प्रदाय प्रवर्तक नरसिंहकविविरचिते नंजराजयशोभूषणे...।

इस काव्यग्रन्थ में सात विलास है। प्रथम विलास में नायक नायिका भेद निरूपण है। द्वितीय विलास में शब्दार्थभेद, रीतिभेद तथा काव्यभेद का निरूपण किया गया है। तृतीय विलास में गुणीभूतव्यंग्य तथा महाकाव्यादि का लक्षण उपलब्ध है। चतुर्थ विलास में रसभावादि, पंचम विलास में दोष, गुण तथा षष्ठ विलास में नाट्यतत्त्वों का निरूपण किया गया है। सातवें विलास में शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है।

आशाधर भट्ट

आशाधर भट्ट का समय 18वीं शताब्दी पूर्वार्ध माना गया है। कोविदानन्द और त्रिवेणिका आशाधर भट्ट कृत प्रमुख काव्यशास्त्रीय रचनाएँ है। त्रिवेणिका की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि आशाधर भट्ट व्याकरण, मीमांसा, न्यायशास्त्र के पण्डित थे-

इतिपद वाक्य प्रमाण पारावारीण श्रीराम जी भट्टात्मजाशाधर भट्टविरचिता त्रिवेणिका समाप्ता।

इसमें अभिधा, लक्षणा,व्यंजना शब्दशक्तियों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। त्रिवेणिका कोविदानन्द का संक्षिप्त रूप है।

आचार्य अच्युतरामशर्मा 'मोडक'

पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात काव्यशास्त्रीय आचार्यों में आचार्य अच्युतरायशर्मा मोडक का प्रमुख स्थान है। आचार्य शर्मा का समय 19वीं शताब्दी पूर्वार्ध माना

गया है। साहित्यसार अच्युतराय कृत काव्यशास्त्रीय रचना है। साहित्यसार की पुष्पिका में इसका उल्लेख है।

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरण श्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ट्युप– नामक श्रीमन्नानारायण शास्त्रिगुरुवरचरणार विन्दराजहंसायमानेन मोंकोप नाम्ना च्युतशर्मणा।

साहित्यसार बारह रत्नों में विभक्त रचना है। धन्वन्तरिरत्न में मंगलाचरण, काव्यप्रकार, काव्यस्वरूप का निरूपण है। ऐरावतरत्न में शब्दशक्तियाँ, इन्दिरारत्न में अर्थव्यंजकता का निरूपण है। दक्षिणावर्तकम्बुरत्न में ध्वनिभेद, रसभेद, व्यभिचारिभाव लक्षणादि का निरूपण है। अश्वरत्न में गुणीभूतव्यंग्य, विषरत्न में दोष, गुणरत्न में काव्यगुण, कौस्तुभरत्न में अर्थालंकार, कामधेनुरत्न में अधमकाव्यभेद, शब्दालंकार तथा कौस्तुभरत्न में अर्थालंकार का निरूपण है। कामधेनुरत्न में अधमकाव्य भेद, शब्दालंकार, रम्भारत्न में नायिका भेद, चन्द्ररत्न में नायक भेद तथा अमृतरत्न उपसंहार के रूप में वर्णित है। साहित्यसार 1313 कारिकाओं में निबद्ध रचना है।

आचार्य कृष्णब्रह्मतन्त्र परकालसंयमीन्द्र

आचार्य कृष्णब्रह्मतन्त्र परकालसंयमीन्द्र का समय 1839 से 1916 ई0 माना गया है। अलटरमणिहार संयमीन्द्र की काव्यशास्त्रीय कृति है।

नवदुर्गतादेशिककृष्णाम्बासूनुरातनोतीमम्।
श्रीशैलान्वयजन्मा कृष्णो *लंकारमणिहारम।

यह चार खण्डों में विभक्त है। इसमें कवि ने 121 अर्थालंकारो तथा चार शब्दालंकारों का विवेचन किया है। ग्रन्थ में कुवलयानन्द तथा रसगंगाधरादि के उद्धरण का उल्लेख प्राप्त होता है।

पं. छज्जूरामशास्त्री विद्यासागर

बीसवीं शताब्दी के काव्यशास्त्रीय आचार्यों में पं0 छज्जूरामशास्त्री आचार्यों में विद्यासागर का प्रमुख स्थान है। साहित्यबिन्दु छज्जूरामशास्त्री प्रणीत काव्यशास्त्रीय रचना है। यह काव्यग्रन्थ पाँच खण्डों में विभक्त है। यह पाँच खण्ड पाँच बिन्दु हैं। प्रथम बिन्दु में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यप्रकार तथा रूपकादि का निरूपण है। द्वितीय बिन्दु में शब्दार्थ त्रैविध्य तथा रसादि का निरूपण है। तृतीय बिन्दु में दोषनिरूपण है। चतुर्थबिन्दु में रीति, गुण का निरूपण है। पाँचवें बिन्दु में अलंकारों की उदाहरण सहित व्याख्या है। साहित्यबिन्दु 20वीं शताब्दी के काव्यशास्त्रपरक ग्रन्थों में लोकप्रिय रचना है।

आचार्य विद्याराम (1706)

आचार्य विद्याराम कृत रसदीर्घिका काव्यशास्त्रीय महत्वपूर्ण कृति है। इसमें साहित्यशास्त्र के रस, अलंकार, भाव, वृत्ति, नायक नायिका भेद, गुण, दोष आदि अगों पर सुन्दर रीति से विवेचन किया गया है। यह रचना पाँच सोपानों में विभक्त है।

अनायासेन बालानां रसास्वादनहेतवे।
विद्याराम: करोत्येतां मनोज्ञां रसदीर्घिकाम

इस प्रकार आचार्य विद्याराम ने स्वयं कहा है कि यह काव्यशास्त्रीय रचना बालबोध के लिये श्रेष्ठ रचना है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक युग की पूर्वार्ध परम्परा के संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने प्राय:अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अनुसरण किया है। 18वीं शती से 20वीं शती के काव्यशास्त्रियों द्वारा रचित काव्यग्रन्थों में देश, स्थान, व्यक्तित्त्व की विभिन्नता के कारण मौलिकता है। उनके काव्य ग्रन्थों में पूर्व आचार्यों के मतों का प्राय: विश्लेषण तथा समीक्षा करते हुए अपने मतों को प्रस्तुत किया गया है। पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र में उपर्युक्त काव्यशास्त्रियों का विशिष्ट योगदान है, क्योंकि इन्होंने अलंकारशास्त्र की परम्परा को आगे बढ़ाया है।

उत्तरार्ध परम्परा

ईसापूर्व के समय से प्रारम्भ होने वाली काव्यशास्त्रीय रचनाओं की सरणि 21वीं शती में भी प्रवाहमान है। इक्कीसवीं शती के प्रमुख काव्यशास्त्रियों का परिचय निम्न प्रकार से किया गया है।

स्वामी करपात्री

आधुनिक भक्ति सम्प्रदाय के संस्कृत काव्यशास्त्रियों में स्वामी करपात्री जी ने भक्ति का विवेचन विस्तृत रूप से किया है। स्वामी करपात्री रचित ग्रंथ है – 'भक्तिरसार्णव'। इसमें ग्यारह अनुच्छेद है।

कपिलदेव ब्रह्मचारी

भक्तिरससम्प्रदाय के काव्यशास्त्री हैं– कपिलदेव ब्रह्मचारी। 'भक्तिरसविमर्श' कपिलदेव ब्रह्मचारी कृत भक्तिरसप्रधान रचना है। भक्तिरसविमर्श में भक्ति का

विवेचन रस रूप में है। यह ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में वैदिक सम्प्रदाय से प्रारम्भ करते हुए समस्त वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों तक के विचारों को प्रस्तुत किया गया है। कपिलदेव ब्रह्मचारी का मत है कि प्रेम से युक्त विभाव, अनुभाव, संचारीभावों के संयोग से भक्ति का रस रूप में अनुभव होता है।

ब्रह्मानन्द शर्मा

सत्यानुभूति को काव्य की आत्मा स्वीकार करने वाले डॉ0 ब्रह्मानन्द शर्मा ख्याति प्राप्त कवि हैं। शब्दार्थ में सत्य के रमणीय प्रतिपादन को उन्होंने काव्य की संज्ञा दी है।

शब्दार्थवर्तिसत्यस्य सुन्दरं प्रतिपादनम्।
काव्यस्य लक्षणं ज्ञेयम् सत्यस्यमात्र विशेषता।

डा. ब्रह्मानन्द शर्मा कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है – वस्त्वलंकारदर्शन, काव्यसत्यालोक वस्त्वलंकारदर्शन में अलंकारविषयक विचार व्यक्त किये हैं। काव्यसत्यालोक के माध्यम से डा0 ब्रह्मानन्द शर्मा ने एक नवीन तत्त्व को संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में समाहित किया है। काव्यसत्यालोक में पाँच उद्योत है। प्रथम उद्योत में सत्य का निरूपण है। द्वितीय उद्योत में सत्य में सूक्ष्मता विवेचन है। तृतीय उद्योत में अलंकार तथा चतुर्थ उद्योत में भावयोग तथा पंचम उद्योत में काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यप्रयोजन की समीक्षा है।

गोविन्दचन्द्र पाण्डे

अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों में आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डे इलाहाबाद के श्रेष्ठ कवियों में हैं। 'आत्मविश्रान्ति ही सौन्दर्य है' ऐसा गोविन्दचन्द्र पाण्डे का मन्तव्य है –

आत्मविश्रान्त्यभेदेन सौन्दर्य व्यपदिश्यते।

आचार्य गोविन्दचन्द्र पाण्डे कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं – सौन्दर्यदर्शनविमर्श, भक्तिदर्शन विमर्श। सौन्दर्यदर्शनविमर्श तीन परिच्छेदों में विभक्त है। 132 कारिकाओं में विभक्त यह ग्रन्थ सौन्दर्यदर्शनकारिका रूपतत्त्व विमर्श तथा रसतत्त्वविमर्श नामक खण्डों में विभक्त है। दूसरा ग्रन्थ भक्तिदर्शनविमर्श तीन व्याख्यानों में विभक्त है।

आचार्य शिव जी उपाध्याय

साहित्यशास्त्र के श्रेष्ठ विद्वानों में आचार्य शिव जी उपाध्याय श्रेष्ठ है। शिव जी उपाध्याय कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है- साहित्यसन्दर्भ। साहित्यसन्दर्भ आठ विमर्श में विभक्त है। ये क्रमशः रसतत्त्वविमर्श, काव्यस्वरूपविमर्श, काव्येधर्मधर्मिभाव, साहित्यस्वरूपविमर्श, सौन्दर्यविमर्श, रसबोधविमर्श, मोक्षतत्साधनविमर्श, धर्मतत्त्वविमर्श हैं। कवि ने शब्द और अर्थ का सहभाव साहित्य है, ऐसा निर्दिष्ट किया है

सहभावेन साहित्यं काव्ये शब्दार्थयोर्मतम्।
तयोरेकतरस्यापि द्वयोर्वासुष्ठुसंस्थितौ।

जगन्नाथ पाठक

डॉ. जगन्नाथ पाठक अर्वाचीन युग के प्रमुख काव्यशास्त्री है। जगन्नाथ पाठककृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है - सौन्दर्यकारिका। 102 कारिकाओं में रचित सौन्दर्यकारिका सौन्दर्य पर आधारित रचना है। डॉ0 पाठक का मानना है सौन्दर्य से ही साहित्य श्रेष्ठ सिद्ध होता है। सौन्दर्य से युक्त होने पर कला और साहित्य सरस और सार्थक हो जाते हैं-

सौन्दर्य हि कलायाः साहित्यस्यापि केवलोपनिषत्।
तेनैवोभयमपि तत् सरसं स्यात् सार्थकं च स्यात्।

रमाशंकर तिवारी

डा0 रमाशंकर तिवारी आधुनिक काव्यशास्त्री हैं। काव्यतत्त्वविवेक डॉ0 तिवारी की काव्यशास्त्रीय रचना है। यह कृति 24 परिच्छेदों में विभक्त है। काव्यतत्त्वविवेक में काव्यस्वरूप-काव्यहेतु काव्यप्रयोजनादि की समीक्षा की गयी है।

चन्द्रमौलि द्विवेदी

आचार्य चन्द्रमौलि रससूत्र पर अपने विचार व्यक्त करने वाले आधुनिक काव्यशास्त्री है। आचार्य चन्द्रमौलि द्विवेदी कृत काव्यशास्त्रीय रचना रसवसुमूर्ति है- रसवसुमूर्तिरिति नाम्ना रचितो*यं काव्यशास्त्रीयो ग्रन्थः। यह रचना कारिका तथा गद्य में समन्वित है। रसवसुमूर्ति में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के आठ भेदों का निरूपण किया गया है।

हरिश्चन्द्र दीक्षित

हरिश्चन्द्र दीक्षित वैदेशिक परम्परा को स्वीकार करने वाले आधुनिक काव्यशास्त्री हैं। काव्यात्मनिर्णय तथा काव्यशास्त्रीय निबन्धावली हरिश्चन्द्र दीक्षित कृत काव्यरचनाएँ हैं। डा0 दीक्षित ने वस्तु भावना को काव्य की आत्मा माना है।

शोभा मिश्रा

शोभा मिश्रा आधुनिक काव्यशास्त्रियों में प्रमुख हैं। तृतीयशब्दशक्तिविमर्श डा. शोभा मिश्रा कृत काव्यशास्त्रीय रचना है। तृतीयशब्दशक्ति विमर्श पाँच अध्यायों में विभक्त रचना है। ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय गौणी, तात्पर्या, व्यंजना तीन वृत्तियाँ हैं। उन्होनें अभिधा, लक्षणा, व्य0जना को शब्दशक्ति मानने में संकोच किया है। शोभा मिश्रा का कथन है कि प्रायः आचार्यों ने इन्हीं को ही शब्दशक्ति के रूप में प्रतिपादित किया है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी अनेक शब्दशक्तियाँ है इनका निरूपण उन्होंने किया है।

रामप्रताप वेदालंकार

चमत्कार को काव्य का सर्वस्व मानने वाले आधुनिक काव्यशास्त्री डॉ. रामप्रताप वेदालंकार रचित काव्य ग्रन्थ चमत्कारविचारचर्चा है। यह ग्रन्थ तीन अनुच्छेदों में विभक्त है। डॉ0 रामप्रताप वेदालंकार ने चमत्कार के अभाव में काव्य सत्ता को अस्वीकार कर दिया है। प्रथम विचार में चमत्कार की विस्तृत व्याख्या की है। द्वितीय विचार में चमत्कार का लक्षण तथा उदाहरण का निरूपण किया है। तृतीय विचार में काव्यभूमि कश्मीर की प्रसंशा की है। अन्त में चमत्कार को साध्य माना है।

आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल

आचार्य चण्डिकाप्रसाद शुक्ल आधुनिक काव्यशास्त्रियों में प्रसिद्ध है। ध्वन्यालोक टीका 'दीपशिखा' उनके द्वारा रचित काव्यकृति है। दीपशिखाकार ने ध्वन्यालोक की व्याख्या आनन्दवर्धन के अनुसार की है।

ध्वन्यालोकस्य सिद्धान्ता दुर्व्याख्यानतमोवृताः।
प्राप्य दीपशिखालोकं पुनरद्य प्रकाशिताः।

डॉ. रेवा प्रसाद द्विवेदी

काशी की संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा के आधुनिक विद्वानों में डा0 रेवा प्रसाद द्विवेदी ख्याति प्राप्त आचार्य है। विश्वभारती आदि श्रेष्ठ पुरस्कारों से पुरस्कृत आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी की काव्यशास्त्रीय रचनाएँ है- काव्यालंकारकारिका, साहित्यशारीरक काव्यालंकारकारिका में 261 कारिकाएँ हैं। इस ग्रन्थ में काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु आदि विषयों पर विचार व्यक्त किए गये हैं।

इमा रेवाप्रसादारव्य-सनातन-कवीरिताः।
दिव्यांजनेयुः सद्दृक्षु काव्यालंकारकारिकाः।

साहित्यशारीरक में डॉ. द्विवेदी ने काव्यशास्त्रीय विकास परम्परा का उल्लेख किया है। डॉ. द्विवेदी वर्तमान अलंकारवादी आचार्य है।

डॉ. राजेन्द्र मिश्र

अभिराज राजेन्द्र मिश्र वर्तमान संस्कृत काव्यजगत के श्रेष्ठतम् रचनाकार हैं। अनेक संस्कृत विषयों पर उत्कृष्ट रचना कर डा0 राजेन्द्र मिश्र ने संस्कृत अभिनव काव्यशास्त्र में अपना श्रेष्ठ योगदान सिद्ध कर दिया है।

प्रणीयेदभिराजयशोभूषणमिंचतम्।
भूयः प्रवर्तये रुद्धां काव्यशास्त्रपरम्पराम्।

अभिराजयशोभूषणम् डा0 मिश्र जी कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ उन्मेषों में विभक्त विशालतम काव्यशास्त्र है। परिचयोन्मेष, वस्तुतत्त्वोन्मेष, आत्मोन्मेष, निर्मित्युन्मेष, प्रकीर्णोन्मेष में संस्कृत के अभिनव सिद्धान्तों की विवेचना की है। परिचयोन्मेष में काव्यप्रसंशा, काव्यप्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य लक्षण, काव्य विभाजन की चर्चा है। शरीरोन्मेष में शब्दार्थ सम्बन्ध, शब्द शक्ति, रीति वृत्ति, गुणालंकार का विवेचन किया गया है। आत्मोंन्मेष में इस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, ध्वनि पर विचार व्यक्त किये गये हैं। निर्मित्युन्मेष में आधुनिक काव्यविधाओं यथा- उपन्यास, एकांकी, लहरी काव्य, विमान काव्य, दीर्घकथा, लघुकथा पर विचार व्यक्त किये गये हैं। प्रकीणोन्मेष में गीत, गजल, छन्दोमुक्त कविता पर ग्रन्थकार ने अपने विचार व्यक्त किये हैं।

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी

डा0 राधावल्लभ त्रिपाठी अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों में लोकप्रिय आचार्य है। अभिनवकाव्यालंकारसूत्र आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी प्रणीत काव्यशास्त्रीय कृति

है। यह तीन अधिकरणों में विभक्त है। काव्यस्वरूपनिरूपण नामक प्रथम अधिकरण में छः अध्याय है। द्वितीय अधिकरण अलंकारविमर्श में छः अध्याय है। तृतीय अधिकरण काव्यविशेषविमर्श में एक अध्याय है। अभिनवकाव्यालंकारसूत्र में तेरह अध्याय तथा सौ सूत्र हैं। डा0 राधावल्लभ त्रिपाठी अर्वाचीन युग के अलंकारवादी आचार्य है।

डॉ0 त्रिपाठी ने अनेक संस्कृत की आधुनिक नवीन विधाओं का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है, जो आधुनिक युग में संस्कृत काव्यशास्त्र की प्रगति की परिचायिका है। अभिनवकाव्यालंकारसूत्र की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि उन्होंने प्राच्य तथा पाश्चात्य दोनों का मन्थन कर नवसिद्धान्तों के मौक्तिक निकाले हैं।

प्राच्यपाश्चात्यसाहित्यशास्त्राणां क्षीरसागरम्।
निस्सारितं विनिर्मथ्य नवसिद्धान्तमौक्तिकम्।
राधावल्लभ इत्याख्यो विदुषा स वंशवदः।
काव्यालंकारसूत्रं सो *भिनवं व्यदधादिदम्।

आचार्य रहसविहारी द्विवेदी

आचार्य रहस विहारी द्विवेदी संस्कृत काव्यशास्त्र आधुनिक परम्परा के श्रेष्ठ कवि माने जाते है। 'नव्यकाव्यतत्त्वमीमांसा' आचार्य द्विवेदी कृत संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। आधुनिक परिवेश को केन्द्र मानकर आचार्य द्विवेदी ने काव्य प्रयोजन, काव्य लक्षण, काव्य हेतु, का निरूपण किया है। आचार्य द्विवेदी ने हाइकू, सीजो, तान्का आदि पाश्चात्य काव्य तत्त्व के आधार पर काव्य के विशिष्ट भेदों का विवेचन किया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि काव्य शास्त्र के मूल तत्त्वों का अन्वेषण वेदों में किया गया है। काव्यशास्त्र की यह परम्परा वेदों से प्रारम्भ होकर अद्युनातन विद्यमान है। काव्यशास्त्र के आचार्यों में भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्धन, जगन्नाथ इत्यादि ने रस, छन्द, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि अपने-अपने स्वतंत्र विचार प्रस्तुत किये है। इसी क्रम में आधुनिक युग के आचार्यों ने भी अपने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। 21वीं शती में भी अनेक नवीन संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ रचे जा रहे हैं, जो संस्कृत काव्यशास्त्र की उन्नति के परिचायक है।

8

दंडी

दंडी संस्कृत के प्रसिद्ध साहित्यकार थे, जो छ्ठी शताब्दी के अंत और सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में सक्रिय थे। संस्कृत शृंगारिक गद्य के लेखक और काव्यशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में उनकी दो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ सामान्यत: निश्चित रुप से उनकी मानी जाती हैं। 'दशकुमारचरित', 1927 में द एडवेंचर्स ऑफ द टेन प्रिंसेज शीर्षक से अनुदित और 'काव्यादर्श' (कविता का आदर्श)।

जन्म विवाद

दंडी के जीवन के सम्बन्ध में प्रामाणिक सूचनाओं का बहुत अभाव है। कोई उन्हें सातवीं शती के उत्तरार्ध या आठवीं शती के आरम्भ का मानता है तो कोई इनका जन्म 550 और 650 ई. के बीच मानता है।

रचनाएँ

दंडी की की तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं- 'काव्यादर्श', 'दशकुमार चरित' और 'अवंतिसुन्दरी कथा'।

दशकुमार चरित

दशकुमार चरित गद्यकाव्य है। इसमें दस कुमारों ने अपनी-अपनी यात्राओं के विचित्र अनुभवों तथा पराक्रमों का मनोरंजक वर्णन किया है। विनोद और

व्यंग्य के माध्यम से इसमें तत्कालीन समाज का भी चित्रण किया गया है। दशकुमार रचना को दंडी की प्रारम्भिक रचना माना जाता है। लेकिन इसी के बल पर दंडी को संस्कृत का पहला गद्यकार भी कहा जाता है। 'दशकुमारचरित' 10 राजकुमारों के प्रेम व सत्ता प्राप्ति के उनके प्रयासों के दौरान सुख-दुख का वर्णन करता है। यह रचना मानव के अवगुणों के यथार्थपरक चित्रण और परालौकिक चमत्कार, जिसमें देवताओं का मानवीय मामलों में हस्तक्षेप शामिल है, से ओतप्रोत है।

काव्यादर्श

काव्यादर्श दंडी की प्रौढ़ावस्था की रचना है। काव्यादर्श साहित्यिक आलोचना की रचना है, जो कविता की प्रत्येक प्रकार की शैली व भावना के आदर्शों को परिभाषित करती है।

अवंतिसुन्दरी कथा

यह दण्डी का सौन्दर्य प्रबन्ध है, जिसमें मालवराज मानसार की कन्या अवंतिसुन्दरी की कथा का वर्णन है। यह दण्डी का सबसे प्रसिद्ध गद्य काव्य है।

भाषा-शैली

दंडी संस्कृत साहित्य में अपने पद लालित्य के लिए विख्यात हैं। उनकी शैली समास रहित एवं प्रसाद गुण से युक्त है। उनके पात्र सांसारिक प्राणी हैं, जो सीधी और सरल भाषा का प्रयोग करते हैं। भाषा में कहीं भी दुबोंधाता नहीं आने पाई है। उनकी भाषा दिन-प्रतिदिन के प्रयोग की भाषा है। दंडी की शैली की विशेषताएँ हैं-

1. अर्थ की स्पष्टता।
2. पद का लालित्या।
3. शब्दों के दिन-प्रतिदिन की क्षमता।
4. रस की सुन्दर अभिव्यक्ति।
5. इन विशेषताओं के कारण कुछ विद्वान् दंडी को वाल्मीकि तथा व्यास की कोटि का तीसरा कवि मानते हैं।

9

वामनावतार

वामन विष्णु के पाँचवे तथा त्रेता युग के पहले अवतार थे। इसके साथ ही यह विष्णु के पहले ऐसे अवतार थे जो मानव रूप में प्रकट हुए कृ अलबत्ता बौने ब्राह्मण के रूप में। इनको दक्षिण भारत में उपेन्द्र के नाम से भी जाना जाता है।

उत्पत्ति

वामन नारायण

वामन घषि कश्यप तथा उनकी पत्नी अदिति के पुत्र थे। वह आदित्यों में बारहवें थे। ऐसी मान्यता है कि वह ींदनउंद रप के छोटे भाई थे।

कथा

वामन को तीन पैरों वाला दर्शाया गया है। त्रिविक्रम रूप में एक पैर धरती पर, दूसरा आकाश अर्थात् देवलोक पर तथा तीसरा बली के सिर पर।

भागवत कथा के अनुसार विष्णु ने इन्द्र का देवलोक में अधिकार पुनः स्थापित करने के लिए यह अवतार लिया। देवलोक असुर राजा बली ने हड़प लिया था। बली विरोचन के पुत्र तथा प्रह्लाद के पौत्र थे और एक दयालु असुर राजा के रूप में जाने जाते थे। यह भी कहा जाता है कि अपनी तपस्या तथा

ताकत के माध्यम से बली ने त्रिलोक पर आधिपत्य हासिल कर लिया था। वामन, एक बौने ब्राह्मण के वेष में बली के पास गये और उनसे अपने रहने के लिए तीन कदम के बराबर भूमि देने का आग्रह किया। उनके हाथ में एक लकड़ी का छाता था। गुरु शुक्राचार्य के चेताने के बावजूद बली ने वामन को वचन दे डाला।

राजा बलि से भिक्षा माँगते वामनदेव

वामन ने अपना आकार इतना बढ़ा लिया कि पहले ही कदम में पूरा भूलोक (पृथ्वी) नाप लिया। दूसरे कदम में देवलोक नाप लिया। इसके पश्चात् ब्रह्मा ने अपने कमण्डल के जल से वामन के पाँव धोये। इसी जल से गंगा उत्पन्न हुयीं। तीसरे कदम के लिए कोई भूमि बची ही नहीं। वचन के पक्के बली ने तब वामन को तीसरा कदम रखने के लिए अपना सिर प्रस्तुत कर दिया। वामन बली की वचनबद्धता से अति प्रसन्न हुये। चूँकि बली के दादा प्रह्लाद विष्णु के परम् भक्त थे, वामन (विष्णु) ने बाली को पाताल लोक देने का निश्चय किया और अपना तीसरा कदम बाली के सिर में रखा, जिसके फलस्वरूप बली पाताल लोक में पहुँच गये।

एक और कथा के अनुसार वामन ने बली के सिर पर अपना पैर रखकर उनको अमरत्व प्रदान कर दिया। विष्णु अपने विराट रूप में प्रकट हुये और राजा को महाबली की उपाधि प्रदान की, क्योंकि बली ने अपनी धर्मपरायणता तथा वचनबद्धता के कारण अपने-आप को महात्मा साबित कर दिया था। विष्णु ने महाबली को आध्यात्मिक आकाश जाने की अनुमति दे दी जहाँ उनका अपने सद्गुणी दादा प्रहलाद तथा अन्य दैवीय आत्माओं से मिलना हुआ।

वामन जी का शिलाचित्र, पाटण गुजरात।

प्रतीकात्मकता

त्रिविक्रम (वामन) का भित्ति चित्र।

वामनावतार के रूप में विष्णु ने बलि को यह पाठ दिया कि दंभ तथा अहंकार से जीवन में कुछ हासिल नहीं होता है और यह भी कि धन-सम्पदा क्षणभंगुर होती है। ऐसा माना जाता है कि विष्णु के दिये वरदान के कारण प्रति वर्ष बली धरती पर अवतरित होते हैं और यह सुनिश्चित करते हैं कि उनकी प्रजा खुशहाल है।

रामायण में

अध्यात्म रामायण के अनुसार वामन भगवान राजा बलि के सुतल लोक में द्वारपाल बन गये और सदैव बने रहेंगे। तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस में भी इसका ऐसा ही उल्लेख है।

वामनावतार

वामन विष्णु के पाँचवे तथा त्रेता युग के पहले अवतार थे। इसके साथ ही यह विष्णु के पहले ऐसे अवतार थे, जो मानव रूप में प्रकट हुए कृ अलबत्ता बौने ब्राह्मण के रूप में। इनको दक्षिण भारत में उपेन्द्र के नाम से भी जाना जाता है।

10

जगन्नाथ पण्डितराज

जगन्नाथ पण्डितराज (जन्म–16वीं शती के अन्तिम चरण में -- मृत्यु–17वीं शदी के तृतीय चरण में), उच्च कोटि के कवि, समालोचक, साहित्यशास्त्रकार तथा वैयाकरण थे। कवि के रूप में उनका स्थान उच्च काटि के उत्कृष्ट कवियों में कालिदास के अनंतर - कुछ विद्वान् रखते हैं। 'रसगंगाधरष्कार के रूप में उनके साहित्यशास्त्रीय पांडित्य और उक्त ग्रंथ का पंडितमंडली में बड़ा आदर है।

जीवनी

पंडितराज जगन्नाथ वेल्लनाटीय कुलोद्भव तैलंग ब्राह्मण, गोदावरी जिलांतर्गत मुंगुडु ग्राम के निवासी थे। उनके उनके पिता का नाम 'पेरुभट्ट' (पेरभट्ट) और माता का नाम लक्ष्मी था। पेरुभट्ट परम विद्वान् थे। उन्होंने ज्ञानेंद्र भिक्षु से 'ब्रह्मविद्या', महेंद्र से न्याय और वैशेषिक, खंडदेव से 'पूर्वमीमांसा' और शेषवीरेश्वर से महाभाष्य का अध्ययन किया था। वे अनेक विषयों के अति प्रौढ़ विद्वान् थे। पंडितराज ने अपने पिता से ही अधिकांश शास्त्रों का अध्ययन किया था। शेषवीरेश्वर जगन्नाथ के भी गुरु थे। मशहूर काव्यशास्त्री और कवि पंडितराज जगन्नाथ औरंगजेब के दरबारी थे और उन्हीं के संरक्षण और हौसलाआफजाई में पंडितराज ने 'पीयूषलहरी', 'गंगालहरी', 'अमृत लहरी', 'लक्ष्मी लहरी' और काव्यशास्त्र मीमांसा ग्रंथ 'रसगंगाधर' लिखा था। (काव्यशास्त्र और हिंदी साहित्य

के रीतिकाल के छात्र इस पर और प्रकाश डाल सकते हैं।) औरंगजेब ने ना तो पंडितराज जगन्नाथ को जलवाया और ना उनके लिखे इन ग्रंथों को। ये ग्रंथ अभी भी उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं पंडितराज ने औरंगजेब के राज्याश्रय में रहते हुए बादशाह की बहन से शादी की और उसका नाम तन्वंगी (जहां तक मुझे याद है) रखा और उस पर संस्कृत में कविता भी लिखी। औरंगजेब ने यह रिवर्स 'लव जिहाद' अपने समय में अपने राज में, बल्कि अपने दरबार में अपनी बहन के साथ होने दिया! यह किंवदंती हो सकती है।

किंवदंतियां

प्रसिद्धि के अनुसार जगन्नाथ, पहले जयपुर में एक विद्यालय के संस्थापक और अध्यापक थे। एक काजी को वाद-विवाद में परास्त करने के कीर्तिश्रवण से प्रभावित दिल्ली सम्राट् ने उन्हें बुलाकर अपना राजपंडित बनाया। 'रसगंगाधर' के एक श्लोक में 'नूरदीन' के उल्लेख से समझा जाता है नूरुद्दीन मुहम्मद 'जहाँगीर' के शासन के अंतिम वर्षों में (17वीं शती के द्वितीय दशक में) वे दिल्ली आए और शाहजहाँ के राज्यकाल तथा दाराशिकोह के वध तक (1659 ई.) वे दिल्लीवल्लभों के पाणिपल्लव की छाया में रहे। मुगल विद्वान युवराज दाराशिकोह के साथ उनकी मैत्री घनिष्ठ थी पर उसकी हत्या के पश्चात् उनका उत्तर-जीवन मथुरा और काशी में में हरिभजन करते हुए बीता। उनके ग्रंथों में न मिलने पर भी उनके नाम से मिलने वाले पद्यों और किंवदंतियों के अनुसार पंडितराज का 'लवंगी' नामक नवनीतकोमलांगी, यवनसुंदरी के साथ प्रेम और शरीर-संबंध हो गया था, जो एक दरबारी गायिका नर्तकी थी। उससे उनका विधिपूर्वक विवाह हुआ या नहीं, कब और कहाँ उसकी मृत्यु हुई - इस विषय में बहुत सी दंतकथाएँ प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त पंडितराज के संबंध में भी अनेक जनश्रुतियाँ पंडितों में प्रचलित हैं। कहा जाता है कि 'यवन संसर्गदोष' के कारण काशी के पंडितों, विशेषतः अप्पय दीक्षित द्वारा बहिष्कृत और तिरस्कृत होकर उन्होंने 'गंगालहरी' के श्लोकों का उच्चार करते हुए इच्छापूर्वक प्राणत्याग किया। कहीं-कहीं यह भी सुना जाता है कि यवनी और पंडितराज - दोनों ने ही गंगा में डूब कर प्राण दे दिए थे। इस प्रकार की लोकप्रचलित दंतकथाओं का कोई ऐतिहासिक-प्रमाण उपलब्ध नहीं है। किसी मुसलमान रमणी से उनका प्रणय-संबंध रहा हो - यह संभव जान पड़ता है। 16वीं शती ई. के अंतिम चरण में संभवतः उनका जन्म हुआ था और 17वीं शती के तृतीय चरण में कदाचित्

उनकी मृत्यु हुई। सार्वभौमश्री शाहजहाँ के प्रसाद से उनको 'पंडितराज' की उपाधि (सार्वभौम श्री शाहजहाँ प्रसादाधिगतपंडितराज पदवीविराजितेन) अधिगत हुई थी। कश्मीर के रायमुकुंद ने उन्हें 'आसफविलास' लिखने का आदेश दिया था। नव्वाब आसफ खाँ के (जो 'नूरजहाँ' के भाई और शाहजहाँ के मंत्री थे) नाम पर उन्होंने उसका निर्माण किया। इससे जान पड़ता है कि शाहजहाँ और आसफ खाँ के साथ वे कश्मीर भी गए थे।

साहित्यिक अवदान

पंडितराज जगन्नाथ उच्च कोटि के कवि, समालोचक तथा शास्त्रकार थे। कवि के रूप में उनका स्थान उच्च काटि के उत्कृष्ट कवियों में कालिदास के अनंतर- कुछ विद्वान् रखते हैं। उन्होंने यद्यपि महाकाव्य की रचना नहीं की है, तथापि उनकी मुक्तक-कविताओं और स्तोत्रकाव्यों में उत्कर्षमय और उदात्त काव्यशैली का स्वरूप दिखाई देता है। उनकी कविता में प्रसादगुण के साथ-साथ आजप्रधान, समासबहुला रीति भी दिखाई देती है। भावनाओं का ललितगुंफन, भावचित्रों का मुग्धकारी अंकन, शब्दमाधुर्य की झंकार, अलंकारों का प्रसंग सहायक और सौंदर्यबोधक विनियोग, अर्थ में भाव-प्रवणता और बोध-गरिमा तथा पदों के संग्रथन में लालित्य की सर्जना - उनके काव्य में प्रसंगानुसार प्रायः सर्वत्र मिलती है। रीतिकालीन अलंकरणप्रियता और ऊहात्मक कल्पना की उड़ान का भी उनपर प्रभाव था। गद्य और पद्य - दोनों की रचना में उनकी अन्योक्तियों में उत्कृष्ट अलंकरणशैली का प्रयोग मिलता है। कल्पनारंजित होने पर भी उनमें तथ्यमूलक मर्मस्पर्शिता है। उनकी सूक्तियों में जीवन के अनुभव की प्रतिध्वनि है। उनके स्तोत्रों में भक्तिभाव और श्रद्धा की दृढ़ आस्था से उत्पन्न भावगुरुता और तन्मयता मुखरित है। उनके शास्त्रीय विवेचन में शास्त्र के गांभीर्य और नूतन प्रतिभा की दृष्टि दिखाई पड़ती है। सूक्ष्म विश्लेषण, गंभीर मनन-चिंतन और प्रौढ़ पांडित्य, के कारण उनका 'रसगंगाधर' अपूर्ण रहने पर भी साहित्यशास्त्र के उत्कृष्टतम ग्रंथों में एक कहा जाता है। वे एक साथ कवि, साहित्यशास्त्रकार और वैयाकरण थे। पर 'रसगंगाधर' कार के रूप में उनके साहित्यशास्त्रीय पांडित्य और उक्त ग्रंथ का पंडितमंडली में बड़ा आदर है।

प्रमुख रचनाएँ

ग्रंथ की प्रौढ़ता से आकृष्ट हो कर साहित्यशास्त्रज्ञ नागेश भट्ट ने 'रसगंगाधर' की टीका लिखी थी।

स्तोत्र

(क) अमृतलहरी (यमुनास्तोत्र),
(ख) गंगालहरी (पीयूषलहरी – गंगतामृतलहरी),
(ग) करुणालहरी (विष्णुलहरी),
(घ) लक्ष्मीलहरी और
(ड़) सुधालहरी।

प्रशस्तिकाव्य

(क) आसफविलास,
(ख) प्राणाभरण और
(ग) जगदाभरण।

शास्त्रीय रचनाएँ –

(क) रसगंगाधर (अपूर्ण सहित्यशास्त्रीय ग्रंथ),
(ख) चित्रमीमांसाखंडन (अप्पय दीक्षित की 'चित्रमीमांसा' नामक अलंकारग्रंथ की खंडनात्मक आलोचना) (अपूर्ण),
(ग) काव्यप्रकाशटीका (मम्मट के 'काव्यप्रकाश' की टीका) और
(घ) प्रौढ़मनोरमाकुचमर्दन (भट्टोजि दीक्षित के 'प्रौढ़मनोरमा' नामक व्याकरण के टीकाग्रंथ का खंडन)।

इनके अतिरिक्त उनके गद्य ग्रंथ 'यमुनावर्णन' का भी 'रसगंगाधर' से संकेत मिलता है। 'रसगंगाधर' नाम से सूचित होता है कि इस ग्रंथ में पाँच 'आननों' (अध्यायों) की योजना रही होगी। परतु दो हो 'आनन' मिलते हैं। 'चित्रमीमांसाखंडन' भी अपूर्ण् है। 'काव्यप्रकाशटीका' भी प्रकाशित होकर अब तक सामने नहीं आई।

सुभाषित –

भामिनीविलास (पंडितराज शतक) उनका परम प्रसिद्ध मुक्तक कविताओं का संकलन ग्रंथ है। 'नागेश भट्ट' के अनुसार 'रसंगगाधर' के लक्षणों का उदाहरण देने के लिए पहले से ही इसकी रचना हुई थी। इसमें चार विलास हैं, प्रथम 'प्रस्तावित विलास' में अत्यन्त सुन्दर और ललित अन्योक्तियाँ हैं, जिनमें जीवन के अनुभव और ज्ञान का सरस एवं भावमय प्रकाशन है। अन्य 'विलास' हैं – श्रृंगारविलास, करुणविलास और शांतिविलास। सायास अलंकरणशैली का प्रभाव तथा

चमत्कारसर्जना की प्रवृत्ति में अभिरुचि रखते हुए भी जगन्नाथ की उक्तियों में रस और भाव की मधुर योजना का समन्वय और संतुलन बराबर वर्तमान है। उनके मत से वांग्मय में साहित्य, सहित्य में ध्वनि, ध्वनि में रस और रसो में शृंगार का स्थान क्रमशः उच्चतर हैं। पंडितराज न अपने पांडित्य और कवित्व के विषय में जो गर्वोक्तियाँ की हैं, वे साधार हैं। ये सचमुच श्रेष्ठ कवि भी हैं और पंडितराज भी।

पंडितराज जगन्नाथ का जन्म आन्ध्रप्रदेश के मुंगुज नामक गांव में हुआ था। इन्होंने रसगंगाधर में अपने को पेरू भटट् अथवा पेरम भटट् तथा लक्ष्मी का पुत्र कहा है। ये लंग प्रदेश के ब्राह्मण थे तथा इनका गोत्र बेंगिनाडू, वेगिनाटि अथवा वेगिनाड था। एक अन्य श्लोक में बताया है कि उनके पिता ने ज्ञानेन्द्र भिक्षु से वेदान्त, महेन्द्र पंडित से न्याय और वैशेषिक, खण्देव पंडित से पूर्व मीमांसा और शेष वीरेश्वर पंडित से न्याय और वैशेषिक,खडदेव पण्डित से पूर्व मीमांसा और शेष वीरेश्वर पंडित से व्याकरण महाभाष्य पढ़ा था। वे वेद के भी प्रकांड पण्डित थे। पण्डितराज ने अपने पिता से विद्या ग्रहण की और कुछ अध्ययन शेष वीरेश्वर से भी किया। पंडितराज का व्यक्तिगत नाम 'त्रिशूली' भी प्रसिद्ध था।'आसफ विलास' के अनुसार बादशाह शाहजहां इनकी विद्वता से प्रसन्न होकर इन्हें पण्डितराज की उपाधि प्रदान की थी। व्यक्तिगत जीवन इससे अधिक अज्ञात है, परन्तु साहित्यिक क्षेत्र में उनका यवन स्त्री से संसर्ग बहुत चर्चा का प्रश्न बना हुआ था। प्रायः लोग मानते हैं कि जीवन के अन्तिम दिनों में वे वाराणसी चले गए थे और वहीं उन्होंने स्वयं को गंगा में विलीन कर लिया था। उनकी कृतियों में अप्पय दीक्षित के मत का खण्डन प्रायः उपलब्ध है। विद्वानों में इस विषय में विवाद रहा है कि वे अप्पय दीक्षित के समकालीन थे या नहीं, अधिकांश विद्वान् अप्पय दीक्षित के समकालीन मानने के पक्ष में है।

पंडितराज जगन्नाथ की रचनाओं में उपलब्ध संकेतों से उनके समय निर्धारण में सहायता मिलती है। 'भामिनी-विला' में उन्होंने सूचित किया है कि उन्होंने अपना यौवन दिल्ली के बादशाह जहांगीर की छत्रछाया में व्यतीत किया था, दिल्लीवल्लभपरिण पल्लवतले नीतं नवनीतं वयः। 'सार्वभौमिश्रीशाहजहां प्रासादादविषगत पंडितराजपदवीकेन'-'जगदभरण' नामक एक और ग्रन्थ में वे दाराशिकोह का वर्णन करते है, संभवतः पंडितराज के यौवन का कुछ भाग दारा की छत्रछाया में भी व्यतीत हुआ था। जगन्नाथ को नूरजहां के भाई तथा शाहजहां के दरबारी नवाब आसफ खां 1641 का संरक्षण भी प्राप्त था, इन्ही की विरूदावली के रूप में उन्होंने 'आसफ विलास' की रचना की थी। रसगंगाधर

में भी आसफ खां का उल्लेख है। शाहजहां ने 1628 में राज्यारोहण किया तथा 1658 ई0 में उसे कारागार में डाल दिया। जगन्नाथ की तिथि की पुष्टि उनकी दो अन्य रचनाओं, जगदाभरण जो उदयपुर नरेश जगत सिंह 1628-54 की स्तुति में रची गई है तथा प्राणभरण जो कामरूप नरेश प्राणनारायण 1633-60 की स्तुति है, से भी होती है। डा0 एस0 के0 डे0 का मत है कि अपने जीवन के भिन्न भागों में जगन्नाथ को जहांगीर, शहजहां, जगतसिंह तथा प्राणनारायण का आश्रय प्राप्त रहा। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि पण्डितराज प्रायः 1590-1665 के बीच काव्य रचना में सक्रिय रहे।

उनके नाम से एक दर्जन रचनाए प्रसिद्ध है, जिनकी सूची इस प्रकार है:-

1. **अमृतलहरीः**-इसमें यमुना की स्तुति है।

2. **आसफ विलासः**-इसमें नवाब आसफ खां का वर्णन है, कृति के कुछ अंश ही प्राप्त हुए हैं।

3. **करूणा लहरीः**-इसमें विष्णु की स्तुति है।

4. **चित्रमीमांसा खण्डनः**-अव्यय दीक्षित की चित्र मीमांसा का जो खण्उन रसगंगाधर में स्थान स्थान पर उपलब्ध है, उसी का संग्रह इसमें हैं।

5. **जगदाभरणः**-इसमें दारा शिकोह की स्तुती है। काव्यमाला के सम्पादक के अनुसार इसमें और प्राणभरणा में इतना ही अन्तर है कि प्रागनारायण के स्थान पर दारा शिकोह का नाम है।

6. **पीयूष लहरीः**-यह कृति गंगा लहरी के नाम से भी प्रसिद्व है। यह अन्त्यन्त लोकप्रिय रही है।

7. **प्राणभरणः**-इसमें नरेश प्रागनारायण की स्तुति है।

8. **भामिनी विलासः**-पण्डितराज के पद्यों का संग्रह है।

9. **मनोरमकुचमर्दनः**:-यह सिद्वान्त कौमुदी की मनोरमा व्याख्या का खण्डन है।

10. **यमुना वर्णनः**-यह ग्रन्थ अनुपलब्ध उद्वरणों से पता चलता है कि यह गद्य ग्रन्थ था।

11. **लक्ष्मी लहरी**-इस काव्य में लक्ष्मी जी की स्तुति है।

12. **रसगंगाधरः**-पंडित राज का सबसे प्रौढ़ और गम्भीर ग्रन्थ यही है। विद्वान इसे इनकी अन्तिम कृति मानते है। पंडितराज प्रथम आनन में सबसे पहले अपना काव्यलक्षण प्रस्तुत किये और उनके अनुसार है रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्, पंडितराज अनेकानेक युक्तियों से सिद्ध किये कि काव्यत्व शब्द पर ही आधारित हो सकता है, शब्द और अर्थ दोनों पर नहीं, अतः लक्षणों की आलोचना

की गई है। इसके बाद 'प्रतिभा' अकेले ही काव्य कारण मानी गई है। प्रतिभा की उत्पत्ति के कारण देवता, महापुरूष प्रसाद अथवा व्युत्पत्ति अलग-अलग हो सकते है समन्वित नहीं। काव्य का विभाजन उत्मोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम चार प्रकार से किया गया है। रस की सांगोपांग व्याख्या है रसानुभूति तथा अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में अनेक ग्यारह मतों की प्रस्तुति, परीक्षण तथा उपयुक्ता की विवेचना है। रसों की संख्या पर भी कवि की मौलिक युक्तियां हैं। अभिनव का मत अधिक अभिप्रेत है। गुणों के सम्बन्ध में दशगुणावाद और गुणास्यवाद दोनों का उल्लेख करके परीक्षण किया गया है। द्वितीय आनन में ध्वनि के विभिन्न भेद, संयोग, विप्रयोग आदि का व्यंग्य निर्धारण में योग एवं महत्व प्रतिपादित है। अभिधा और लक्षण के भेदों का सांगोंपांग विवेचन है। 70 प्रकार के उपमा तथा अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण भी इसी आनन में दिए गये है। 'उत्तर' अलकारों को पूरा किए बिना ही अकस्मात् इस ग्रन्थ की समाप्ती हो जाती है।

पण्डितराज की विचार शक्ति अत्यन्त मौलिक थी। शास्त्र पर उनका अधिकार सर्वोपरि था, वैदुष्य प्रगाढ़ था और पांडित्य गम्भीर। उनकी युक्तियाँ शास्त्र और तर्क के रूप में और विवेचनधर्मी आलोचना दोनों के रूप में उनका व्यक्तित्त्व अप्रितम है। अपने ग्रन्थ के लिए उन्होंने भाषा और शैली दोनों नव्य न्याय पद्धति के अनुसार लिए है, जो सामान्य पाठक के लिए कठिन ही नहीं भयप्रद भी लगते है। इसीलिए डा0 एम0के0 डे उनके बारे में कहते है, ''जगन्नाथ की शैली पाण्डित्य पूर्ण है। अपनी जटिल भाषा, अतिसूक्ष्म विचार और प्राचीन लेखकों की निर्मम आलोचना के कारण विद्याथियों लिए भयप्रद है।'' - जगन्नाथ की कृति प्राक्तन समस्याओं के पुनर्विचार पर तीव्र और स्वतन्त्र शास्त्रार्थ तथा पूर्वाग्रहविमुक्त प्रहार करती है। वे प्राचीन आलंकारिकों के सिद्धान्तों में अपनी निपुणता दिखाते हैं और उनकी अवहेलना किए बिना नवीन विचारों के साथ इनके एकीकरण का प्रयास करते हैं। मा0 म0 पी0 वी0 काणे इस कृति को पर्याप्त महत्व देने के पक्ष में है। उनका कथन है कि, ''साहित्य के क्षेत्र में केवल ध्वन्यालोक और काव्य प्रकाश के अनन्तर इसका स्थान है। पंडितराज की एक विशिष्ट शैली है, जिसमें वे पहले किसी वस्तु का लक्षण बताते है, फिर उनका विवेचन करते है, तदनन्तर अपने उदाहरण से स्पष्ट करते हैं और फिर पूर्ववर्ती विद्वानों की आलोचना करते हैं। उनका गद्य भोजस्वी तथा शैली गुण दोष विवेचक है। संस्कृत में इस प्रकार की महनीय रचना के कारण पण्डितराज अलंकार शास्त्र की अनोखी विभूति हैं।

❐❐❐